

॥ श्रीः ॥

—ॐ हरिदास—संस्कृत—ग्रन्थमाला ॐ—

२११



पंजाब—बिहार—बंगालादि—वि विधपरीक्षानिर्धारिता

काव्य-दीपिका

'मयूख' 'किरण' टीकाद्वयोपेता



प्रकाशकः—

जयकृष्णदास—हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस,
विद्याविलास प्रेस, बनारस—१

॥ शोः ॥

✽ हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला ✽

२११



कान्तिचन्द्रविद्यारत्नभट्टाचार्यसङ्कलिता

काव्यदीपिका

श्रीसंन्यासिसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापक-
न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य-

पण्डित श्रीरामगोविन्दशुक्ल

रचितया

मयूखाख्य-संस्कृतटीकया किरणाख्य-हिन्दीटीकया च

विराजिता तेनैव सम्पादिता च ।



प्रकाशकः

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः-

बौध्मसा संस्कृत सीरिज आफिस,
बिधाविलास प्रेस, बनारस सिटी ।

सं० २००७]

[सन् १९५१

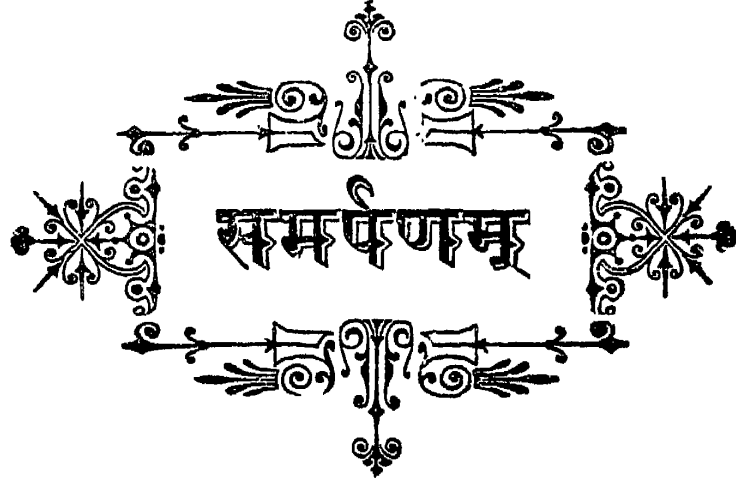
प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः
बौद्धम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस
बनारस

सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

मुद्रक—

विद्याविलास प्रेस
बनारस



तात !

यस्य तव वदनमाश्रिता भारती सर्वत्रा-
प्रतिहतप्रसरा आसीत् तस्यैव ते
करकमलयोरथमुपहारः ।

भवदीयस्य
रामगोविन्दशुक्लस्य

निवेदनम्

भगवतः सिसृक्षया उत्पन्ना सृष्टिरासीत् पुरा मूढा किं कर्तव्यतायां विमूढा च । स अस्यां शस्यश्यामलायां पृथिव्यां मानवमुत्पाद्य तस्य च रक्षाकार्यं कुर्वन् मानसिकं विकासं पूर्वजन्मनः संस्कारं च परीक्ष्यमाण आसीत् । मानवश्च भगवतः उपदेशेन स्वस्य बुद्धिप्रभावेण च स्वं स्वं कार्यक्षेत्रं निर्माय कार्याणि अकृत । तत्रैव वर्तमानस्य एकस्य महर्षेः क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः कारुणिको रागात्मको भाव आविर्भव । “मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधोः काममोहितम् । इति । ततः प्रभृति लोके काव्य-शास्त्रस्यावतारः समजायत । ततो महाकविनिर्मितानां काव्यानां निर्माणम् । ततः गुणदोषालंकारादीनां निरूपणेन रीतिग्रन्थानामुत्पत्तिः । तेषु च रीति ग्रन्थेषु “विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनमिति” अनुबन्ध—चतुष्टयस्य निरूपणं ततः काव्यादिलक्षणादीनां कथनम् । तत्र काव्यनिर्माणप्रयोजनमुक्त्वा लिखितं यत् काव्यफलैरेवास्यपि फलवत्त्वम् । अत्र यथा पुण्यादिकर्मणामुपदेष्टापि कर्मफलभाग् भवति तथैव काव्यशास्त्रे आभिमुख्योत्पादनमपि काव्यजन्यफलाय भवति । तत्र दोषवतां काव्यानां निर्माणे उपहसनीयता, अलङ्कारवतां च निर्माणे अनुपहसनीयता इति अनुपहसनीय—काव्यरचनायां यशः प्रसरति । अतः तादृशस्यैव काव्यस्य निर्माणं कवीनां कर्तव्यमित्यादिशति रीतिशास्त्रम् ।

कवयश्च द्विविधाः, एकः उद्बुद्धप्रतिभाकः अपरश्चोद्बोधप्रतिभाकः । तत्र उद्बुद्धप्रतिभावतां महाकवीनां ग्रन्थानामवलोकनेनैव काव्यादिनिर्माणशक्तिः प्रादुर्भवति काव्यं च प्रसरति । उद्बोधप्रतिभावतां च मुहुर्मुहुर्भ्यासजेन बोधेन काव्यनिर्माणशक्तिरुदेति । तत्र प्रथमे काव्यादिनिर्माणेन यशः प्राप्नुवन्ति, अन्ये च काव्यपरिशीलनेन काव्यार्थबोधम् ।

रीतिग्रन्थानां न तादृशी आवश्यकता प्रथममहाकवीनां कृते यथा अन्येषां कृतेऽस्ति, ते तु तेषां निदर्शनानि ।

ते च रीतिग्रन्थाः सन्ति अनेके तथापि ते न प्राथमिकबोधलिप्सूनामुपकार-
क्षमाः । विशेषतश्च आंग्लविद्यालयीयछात्राणाम् इति कलकत्ताविश्वविद्यालयीयछा-
त्राणामुपकाराय अलंकारशास्त्रस्य सामान्यज्ञानप्राप्तये च तत्रत्यः संस्कृतसाहित्याध्या-
पकः श्रीकान्तिचन्द्रो भट्टाचार्यः काव्यप्रकाश—साहित्यदर्पण—काव्यादर्शादिग्रन्थानां
लक्षणानि उद्धृत्य तत्र स्वयं किञ्चिद्व्याख्याय प्रकाशितेयं काव्यदीपिका । ततोऽस्याः
सारव्यं प्राथमिकानां छात्राणां चोपकाराय ज्ञात्वा बहुभिः संस्कृतपरीक्षाध्यक्षैः प्रथम-
मध्यमपरीक्षाषु च निर्धारिता । अस्यां च—

- १—प्रथमशिखायाम्—काव्यप्रयोजनं, लक्षणञ्च ।
- २—द्वितीयशिखायाम्—अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनानां निरूपणम् ।
- ३—तृतीयशिखायाम्—काव्य-भेद-रस-ध्वनिभेदानां च निरूपणम् ।
- ४—चतुर्थशिखायाम्—नायकादीनां नाटकोपयोगिनां वस्तूनां वर्णनम् ।
- ५—पञ्चमशिखायाम्—दोषनिरूपणम् ।
- ६—षष्ठशिखायाम्—गुणनिरूपणम् ।
- ७—सप्तमशिखायाम्—रीतिनिरूपणम् ।
- ८—अष्टमशिखायाम्—अलङ्कारनिरूपणम् ।
- ९—परिशिष्टालोके—अर्थालंकारनिरूपणम् ।

अस्य ग्रन्थस्य रूपं प्रथमसंस्करणपेक्षया अपरे संस्करणौ किञ्चित् परिवर्धितं । तत्र
सप्तमे दोषाङ्कुशप्रकरणं एकं परिशिष्टप्रकरणं च । तत्र अस्माभिः सप्तमशिखाया अन्ते
निर्दिष्टं दोषाङ्कुशप्रकरणम् परिशिष्टं तु पूर्वद्वैवान्ते वर्तते । विशेषतः विषयानुक्रमणिकायां
द्रष्टव्यम् ।

सा च काव्यदीपिका अतिसरलसरण्या निर्मिता वहर्थप्रकाशिकापि अतिसंक्षिप्ततया
व्याख्यानमपेक्षत एव । यद्यपि अत्र बहूनां विदुषां व्याख्यानं वर्तते तथापि तत्र

केचन हिन्दीप्रेम्णा अपरे पाण्डित्यप्रदर्शनाय प्रवृत्ता न छात्राणामुपकाराय तेषां प्रवृत्तिः । अतः मया दीपिकामयूखनाम्नी टीका निर्माय श्रेष्ठिप्रवराय श्रीमते जयकृष्णदासगुप्ताय प्रादीयत तेन च स्वधनव्ययेयानीयत प्रकाशं प्रकाशिता च यदि छात्राणां किञ्चिदप्युपकारमादध्यात् तदाहमात्मानं कृतकृत्यं मन्ये । मया च कोमलमतीन् बालान् आकलय्य मूलदीपिकायाः हिन्दीभाषायामर्थोऽपि लिखितः ।

येभ्यः राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीयन्यायाध्यापकेभ्यः न्यायव्याकरणसाहित्य-मीमांसावेदान्ताद्याचार्येभ्यः पितृचरणेभ्यः पण्डितसम्राजेभ्यः स्वर्गीय श्रीसूर्यनारायण-शुक्लशर्मभ्यः व्याकरणसाहित्यमीमांसाशास्त्रं येभ्यश्च जो० म० गो० संस्कृतमहाविद्या-लयन्यायप्रधानाध्यापकेभ्यः न्यायाचार्यश्रीपद्मप्रसादभट्टराईमहोदयेभ्यः नव्यन्यायशास्त्र-आधीत्य आत्मानं कृतकृत्यं मन्ये तेभ्यः सप्रणिपतं प्रणम्य तेषामुपकारजातं शिरसा विभूयाम्, आत्मानं चानृणं मन्ये । यत्र वसता न्यायव्याकरणसाहित्यमीमांसा-शास्त्राणि चाधीत्य अद्दशतमे वयसि वर्तमानेन मया मीमांसाशास्त्रस्य प्रधानाध्या-पकपदेवस्थायाधुना ध्याप्यते तेषां यतिकुत्तकमलदिवाकराणां सर्वप्रकारेण मयि वत्सलां दृष्टिमादधतां मदभ्युन्नतिं कामयमानानां श्रीस्वामिधर्मानन्दगिरिमहाराजानां चरण-कमलयोः सप्रणिपतं प्रणम्य आजन्म तदुपकारजातं स्मरन् केवलं आत्मनं तदीयमेव मन्ये ।

अन्ते च एतद्ग्रन्थप्रकाशकं श्रेष्ठिवरं श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयं शुभाभिराशी-वचोभिर्नियुञ्जन् श्रीविश्वेश्वरचरणकमलयोः पुष्परूपेण ग्रन्थमिमं समर्पयामि ।

“प्रतिभा” कार्यालयः
मकरसंक्रान्तिः
सं० २००७

विदुषामनुचरस्य
श्रीरामगोविन्दशुक्लस्य

विषयानुक्रमणिका

| | | | | |
|-------------------------|----|-------------------------------|---|----|
| प्रथमशिखायाम्— | | अभिधामूलध्वनिः | } | २८ |
| मङ्गलाचरणम् | १ | (विवक्षितान्यपरवाच्यः) | | |
| काव्यप्रयोजनम् | २ | अविवक्षितवाच्यभेदौ | | ” |
| काव्यलक्षणम् | ४ | तत्र अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः | | २९ |
| द्वितीयशिखायाम्— | | ” अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः | | ३० |
| वाक्यस्वरूपम् | ७ | विवक्षितान्यपरवाच्यः | | ” |
| पदस्वरूपम् | ८ | तद्विभागः | | ३१ |
| शब्दविभागः | ” | तत्र असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः | | ” |
| अर्थविभागः | ” | ” रसनिरूपणम् | | ३२ |
| वाचकस्वरूपम् | ९ | रसभेदाः | | ३५ |
| अभिधाकथनम् | ” | स्थायिभावाः | | ४२ |
| लक्षणास्वरूपम् | १२ | व्यभिचारिभावाः | | ४३ |
| लक्षणाविभागः | १४ | शान्तरसः | | ४४ |
| उपादानलक्षणा | ” | वत्सलरसः | | ४५ |
| लक्षणलक्षणा | १५ | संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः | | ४६ |
| व्यञ्जनास्वरूपम् | १६ | गुणीभूतव्यङ्ग्यम् | | ४७ |
| व्यञ्जनाविभागः | १७ | चित्रकाव्यम् | | ४८ |
| शाब्दी व्यञ्जना | ” | तद्भेदौ | | ” |
| अभिधामूला व्यञ्जना | १८ | चतुर्थशिखायाम्— | | |
| लक्षणामूला व्यञ्जना | २३ | दृश्यध्रुव्यभेदेन | } | ५१ |
| आर्थी व्यञ्जना | २४ | काव्यविभागः | | |
| तृतीयशिखायाम्— | | दृश्यकाव्यलक्षणम् | | ” |
| काव्यभेदाः | २७ | अभिनयस्वरूपं तद्भेदाश्च | | ” |
| ध्वनिः | ” | नाटकलक्षणम् | | ५२ |
| ध्वनिभेदौ | ” | नायकलक्षणम् | | ” |
| लक्षणामूलध्वनिः | २८ | तत्र धीरोदात्तलक्षणम् | | ५३ |
| (अविवक्षितवाच्यः) | | | | |

| | | | |
|-------------------------|----|---------------------------------|-----|
| अङ्गलक्षणम् | ५३ | गद्यलक्षणम् | ९ |
| बीजलक्षणम् (टीकायाम्) | ५४ | चम्पूलक्षणम् | ७६ |
| नाटकीयपूर्वकृत्यम् | ५५ | षष्ठमशिखायाम्— | |
| पूर्वरङ्गलक्षणम् | ५५ | दोषस्वरूपं तद्भेदाश्च | ७७ |
| नान्दीलक्षणम् | ५६ | पदमात्रगतदोषाः | ७७ |
| प्रस्तावनास्वरूपम् | ५६ | पदवाक्यगतदोषाः | ७९ |
| प्रस्तावनाभेदाः | ५७ | वाक्यमात्रगतदोषाः | ९० |
| उद्घात्यकलक्षणम् | ५७ | अर्थदोषाः | ९७ |
| कथोद्घातलक्षणम् | ५८ | रसदोषाः | १०३ |
| प्रयोगातिशयलक्षणम् | ६० | दोषाणां गुणदोषत्वे | १०५ |
| प्रवृत्तकलक्षणम् | ६१ | अनुकरणस्य अदोषता | ७७ |
| अवलगितलक्षणम् | ६२ | काविसमयख्यातानि (टीकायाम्) | १०६ |
| पताकास्थानकप्रयोगस्थलम् | ६३ | षष्ठशिखायाम्— | |
| पताकास्थानकलक्षणम् | ६३ | गुणस्वरूपम् | १०९ |
| अर्थोपक्षेपकाः | ६५ | गुणविभागः | ११० |
| विष्कम्भकलक्षणम् | ६६ | माधुर्यलक्षणम् | ७७ |
| प्रवेशकलक्षणम् | ६६ | रसावशेषे द्रुतेरातिशयम् | ७७ |
| अङ्गावतारलक्षणम् | ६७ | रचनायां माधुर्यलक्षणम् | १११ |
| सन्धिलक्षणम् | ६७ | ओजः स्वरूपं तद्व्यञ्जकवर्णादीनि | ११२ |
| सन्धिभेदाः | ६७ | प्रसादस्वरूपम् | ११३ |
| मुखलक्षणम् | ६८ | माधुर्यादीनां शब्दगुणत्वम् | ११४ |
| प्रतिमुखलक्षणम् | ६८ | सप्तमशिखायाम्— | |
| गर्भलक्षणम् | ६८ | रीतिस्वरूपं तद्भेदाश्च | ७७ |
| विमर्षलक्षणम् | ६९ | रीतिलक्षणम् | ११५ |
| निर्वहणलक्षणम् | ६९ | वैदर्भीस्वरूपम् | ७७ |
| नाट्योक्तयः | ७० | गौडीस्वरूपम् | ७७ |
| श्रव्यकाव्यलक्षणम् | ७३ | अष्टमशिखायाम्— | |
| पद्यमहाकाव्यलक्षणम् | ७४ | अलङ्कारस्वरूपम् | ११६ |
| खण्डकाव्यलक्षणम् | ७५ | अलङ्कारविभागः | १ |

| | | | |
|-----------------------|-----|------------------|-----|
| शब्दालङ्काराः | ११८ | श्लेषः (आर्यः) | १५७ |
| अनुप्रासः | ॥ | सहोक्तिः | १५८ |
| यमकम् | ॥ | काव्यलिङ्गम् | १५९ |
| श्लेषः (शाब्दः) | ११९ | विभावना | ॥ |
| अथ अर्थालङ्काराः | १२१ | विशेषोक्तिः | १६० |
| स्वभावोक्तिः | ॥ | विरोधः | १६२ |
| उपमा | १२२ | विषमम् | १६४ |
| मांलोपमा | १२५ | असङ्गतिः | १६७ |
| रूपकम् | ॥ | कारणमाला | ॥ |
| उत्प्रेक्षा | १२६ | सारः | १६८ |
| निर्गीर्णत्वलक्षणम् | १२७ | एकावली | १६९ |
| उत्प्रेक्षाबोधकशब्दाः | १२८ | अर्थापत्तिः | १७० |
| अतिशयोक्तिः | १२९ | | |
| अतिशयोक्तिभेदाः | १३१ | अष्टमशिखालोके | |
| व्यतिरेकः | १३३ | स्मरणम् | १७२ |
| प्रतिवस्तूपमा | १३४ | परिकरः | १७३ |
| निदर्शना | १३६ | अधिकम् | १७४ |
| दृष्टान्तः | १३८ | विशेषः | १७५ |
| अर्थान्तरन्यासः | १३९ | परिवृत्तिः | १७८ |
| तुल्ययोगिता | १४१ | पर्यायः | १७९ |
| दीपकम् | १४३ | परिसंख्या | १८२ |
| अन्यरूपं दीपकम् | १४४ | तद्गुणः | १८५ |
| सन्देहः | १४५ | उदात्तम् | ॥ |
| भ्रान्तिमान् | १४७ | सूक्ष्मम् | १८७ |
| अपह्नुतिः | १४८ | भाविकम् | ॥ |
| समासोक्तिः | १४९ | विनोक्तिः | १८८ |
| अप्रस्तुतप्रशंसा | १५२ | पर्यायोक्तम् | १८९ |
| व्याजस्तुतिः | १५३ | व्याजोक्तिः | ॥ |
| प्रतीपम् | १५५ | वक्रोक्तिः | १९० |
| | | आक्षेपः | १९१ |

उदाहरणश्लोकानां सूचिका

| | | | |
|--------------------|-----|-----------------------|-----|
| अ | | आशीः परम्परां- | ९० |
| अकालजलदा | १२९ | आसादितप्रकट- | ६१ |
| अजस्य गृह्णतो- | २६३ | | |
| अत्रासीत्- | ४७ | इ | |
| अदृष्टदुःखो- | ३७ | इत्थमाराध्य- | १४० |
| अन्यदेवाङ्ग- | १३१ | इयं गेहे- | ६४ |
| अपमेघोदयं- | १६० | उ | |
| अनृतं गिरं- | १६६ | उग्निगण- | ६ |
| अभ्युन्नताङ्गुष्ठ- | १३७ | उत्कृत्योत्कृत्य- | ४० |
| अमुक्ता- | ८७ | उदेति पूर्वं- | १३२ |
| अयि कठोर- | ६ | उदारचरितो- | ८५ |
| अयं रत्नाकरो- | १६६ | उपकृतं- | १३ |
| अयं मार्तण्डः- | १४६ | उर्व्यसावत्र- | ९२ |
| अस्याः सर्गविधौ- | १४६ | | |
| अरविन्दमिदं- | १७३ | क | |
| अहौ वा हारे वा- | ४४ | कानने सरिदुद्देशे- | १७७ |
| अहो खलभुजं- | १६७ | किमधिकमस्य- | १७६ |
| अहो केनेदृशी- | १९० | किमासेव्यं- | १८३ |
| अस्त्रज्वाला- | १०१ | किं भूषणम्- | १८२ |
| | | किमित्यपास्याभर- | १७८ |
| आ | | किं रुषाशोणितस्पर्धा- | ८२ |
| आच्छादितायत- | २२ | किमिति न- | ९६ |
| आनन्दयति- | ९० | कुबेरगुप्तां- | २१ |
| आनन्दममन्द- | १६५ | कूजन्तं राम- | ४९ |
| आयान्तमालोक्य- | १८९ | कुर्यां हरस्या- | ९३ |
| | | कूजत् कुञ्जकुटीर- | ४९ |

| | | | |
|-------------------------|---------|--------------------|-----|
| कूरप्रहः सकेतुः- | ४९ | तद्रच्छ सिद्धै- | ८० |
| कृतमनुमतं वा- | ३७ | तवास्मि गीत- | ६३ |
| क सूर्यप्रभवो- | १३६ | तपस्विभिर्या | ८१ |
| क्षणत् प्रबोध- | १२३ | तदा भगवता- | १७८ |
| क्षीरोदजा- | ८४ | तव प्रसादात्- | १७४ |
| क्षुद्राः सन्त्रासमेते- | ३८ | तद्गोहं नतभित्ति- | १८१ |
| | | तस्य च प्रवयसः- | १७९ |
| ख | | ताम्रभृङ्गार | ९८ |
| खलस्य- | १५८ | ताम्बूलभृत- | ८२ |
| | | ते दृष्टिमात्र- | ५० |
| ग | | त्यक्त्वा राज्यं- | १५४ |
| गाण्डीवी- | ७८ | त्वामस्मि- | २९ |
| गुरुपरतन्त्रतया- | १९० | | |
| गृह्णन्तु वा- | १९२ | | |
| गृहिणी सचिवः- | ११३-१७७ | द | |
| गृहीतं येनासीः- | १०० | दलिते- | ९२ |
| ग्रीवाभंगाभिरामं- | १२१ | दशाननकिरे- | १५९ |
| | | दिशि मन्दायते- | १३४ |
| च | | दिव्यनामपि- | १७२ |
| चञ्चद्भुज- | ११२ | दिवमप्युपयाता- | १७७ |
| चन्द्रं गता पद्म- | १३३ | द्वयं गतं | ९४ |
| चातकस्त्रिचतु- | १५१ | दृष्टिस्त्रुणीकृत- | १३० |
| | | द्वीपादन्यस्मादपि- | ५९ |
| ज | | | |
| जगद्भ्योनिरयो- | १६३ | ध | |
| जगाद वदन- | १८५ | धन्यासि वैदर्भि- | १३५ |
| जितेन्द्रियत्वं- | १६८ | धम्मिहलस्य- | ८४ |
| जुगोपात्मान- | ८८ | धनिनोऽपि- | १६१ |
| | | | |
| त | | न | |
| ततश्चचार- | १०२ | नवजलधर- | ८७ |
| तथाभूतां दृष्ट्वा- | २५-९३ | नवपलाश- | ११८ |
| तदिर्द क्रियता- | १११ | | |

| | | | |
|------------------------|-----|----------------------|------|
| नष्टं वर्षवरै- | ३९ | भिक्षो मांस- | ३६ |
| न तज्जलं यन्न- | १७० | मधुश्च ते- | १३५ |
| नाभिप्ररूढा- | १८६ | मधुरिमरुचिरं- | १८१ |
| नागेन्द्रहस्तास्त्वचि- | १४२ | महाराज श्रीमन्- | १४७ |
| निर्वाणवैरदहना- | ५९ | मानुषीभ्यः- | ५-४१ |
| नेदं नभोष्मडल- | १४८ | मुखं यदि किमिन्दु- | १५६ |
| नैतल्लघ्वपि | १३८ | मुनिर्जयति- | १८८ |
| न्यक्कारो ह्यय- | ८८ | मुक्ताः केलिविसूत्र- | १८६ |
| | | | |
| परापकारनिरतै- | ९६ | यं सर्वशैला- | १४१ |
| पर्याप्तपुष्प- | १२ | यत्वज्ञेत्र- | १५६ |
| पर्याप्तमेव- | ६५ | यदाह धात्र्या- | ४५ |
| पादाहतं- | १५२ | यमुनाशम्बर- | ८२ |
| पिदधानमन्व- | १८७ | यशोधिगन्तुं- | ९५ |
| पुष्पं प्रवालो- | १३२ | यस्य भृत्याश्च- | ३७ |
| पृथुकार्तस्वर- | १२० | यावदर्थपदां- | १४० |
| प्रभामहत्या- | १२५ | युक्तं तवैतत्- | १५५ |
| प्रतिकूलता- | ११९ | युगान्तकाल- | १७५ |
| प्रयत्नप्रत | १०२ | | |
| प्रलपत्येष | १०२ | | |
| प्राप्ता श्रियः- | १०० | राज्ये सारं- | १६८ |
| प्रियं चेत्- | ९३ | रे हस्त दक्षिण- | १५९ |
| पुरोपनीतं नृप- | १५८ | | |
| | | | |
| बन्धुभिः- | ७९ | लताकुञ्जं- | ११७ |
| बलावलेपात्- | १४३ | लिम्पतीव- | १२७ |
| | | | |
| भक्तिर्भवे न विभवे- | १८४ | वपुर्विरूपाक्ष- | ८६ |
| | | वासवाशा- | ९२ |
| | | विवृण्वती- | ३५ |

साहित्यदर्पणः

सटिप्पण-‘लक्ष्मी’ नामक टीका विभूषितः ।

आज तक की प्रकाशित सभी टीकायें इसमें गतार्थ हो चुकी हैं । काशी के सुप्रसिद्ध साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् साहित्यरत्नाकर श्रीमान् ताराचरण भट्टाचार्य जी के तत्त्वावधानमें इस सुविस्तृत टीकाकी रचना की गयी है । म० म० हरिहरकृपालु जी द्विवेदी, म० म० गोपीनाथ जी कविराज, म० म० नारायण शास्त्री जी खिस्ते, साहित्य रत्नाकर पं० महादेव शास्त्री जी प्रभृति भारत के बड़े २ विद्वानों ने प्रशंसापत्रों में मुक्तकंठ से इस टीका की प्रशंसा की है जो पुस्तक में प्रकाशित है । आज तक इतनी सरल सुविस्तृत टीका प्रकाशित नहीं हुई थी । १२)

मुद्राराक्षस-नाटकम्

भावबोधिनी-आशुबोधिनी संस्कृत हिन्दी टीका विभूषित ।

अब तक परिक्षार्थी विद्यार्थियों के उपयोगी कोई भी विस्तृत और विशद व्याख्या नहीं थी । इसी कमी को पूर्ण करने के लिये सभी कठिन २ समासों का पद-विच्छेद करके नाटकीय व्याख्या के ढङ्गपर बीज, बिन्दु, पताका, रसोल्लेख और अलङ्कारों का समन्वय करते हुए भावबोधिनी नामक अतिशय सरल व सुन्दर व्याख्या बनायी गयी है । इसके साथ अति सुगम आशुबोधिनी नामक हिन्दी टीका का यथास्थान सन्निवेश होने से ग्रन्थ की उपयोगिता इतनी बढ़ गयी है कि अल्प समय में ही इसका पञ्चम संस्करण भी प्रकाशित हो गया है । ४॥)

वेणीसंहारनाटक-प्रबोधिनी-प्रकाश सहित

‘प्रबोधिनी’ तथा ‘प्रकाश’ संस्कृत हिन्दी टीकाद्वयोपेतम् ।

इस टीका में सभी नवीन प्राचीन प्रकाशित टीकाओंका गुण-दोष विवेचन करके नाटकीय व्याख्या के ढङ्ग पर श्लोकान्वय, विग्रह, पर्याय, सुन्दर अर्थ भावार्थ, अलङ्कार तथा कोषादि प्रमाण से शब्दान्तर देकर समन्वय करते हुए प्रत्येक पात्र का लक्षण तथा नाटक, चम्पू, काव्य और महाकाव्य आदि का लक्षण भी जगह २ पर दे दिया गया है जो कि आज तक किसी भी अन्य संस्करणों में नहीं पाया जाता । इतनाही नहीं विस्तृत ‘भूमिका’ में सम्पूर्ण ग्रन्थ की समा-लोचना कर के सभी अङ्क का संक्षिप्त ‘कथासार’ भी अलग लिखदिया गया है, जिससे संक्षेप में इस ग्रन्थ का कथानक समझने में बड़ी सुगमता हो गई है । ३॥)

उत्तररामचरितम्

चन्द्रकला-विद्योतिनी-संस्कृत-हिन्दीटीका, संस्कृत-हिन्दीकथासार,
सविशेष टिप्पणी (नोट्स) आदि बृहत् परिशिष्ट सहित ।

सभी प्रान्त के शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्य-ग्रन्थों में निर्धारित इस ग्रन्थ की ऐसी सारविवेचिनी सुविस्तृत व सरल संस्कृत-हिन्दी टीका आजतक प्रकाशित नहीं हुई थी जिससे विद्यार्थियों का विशेष लाभ हो । इस महान् ऋटि की पूर्ति करने के लिये हमने अनेक ग्रन्थ के सम्पादक पं० शेषराज शास्त्री जी द्वारा इस ग्रन्थ की व्याख्या नाटकीय ढंग पर करायी है । इसकी विस्तृत व्याख्या में पूर्व प्रकाशित सभी टीकायें गतार्थ हो चुकी हैं । इस संस्करण के परिशिष्ट में प्रत्येक अंक का हिन्दी नोट्स भी परीक्षार्थियों के लिये दिया गया है । प्रत्येक विषय का इतना सुन्दर और सरल रीति से स्पष्ट प्रतिपादन अन्य संस्करण में मिलना दुर्लभ है ४॥)

नागानन्दनाटक-भावार्थदीपिका टीका

टीकाकार-साहित्याचार्य पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए०
प्रोफेसर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

इस ग्रन्थ के टीकाकार संस्कृत साहित्य के अद्वितीय विद्वानों में हैं इसकी भावार्थदीपिका संस्कृत-हिन्दी टीका अल्प समय में ही पूर्ण ख्याति पा चुकी है । इस अभिनव परिचिद्धित द्वितीय संस्करण में सम्पूर्ण ग्रन्थ को सर्वाङ्ग पूर्ण परीक्षोपयोगी बना दिया गया है । अतिशय सरल व विस्तृत भाषा टीका को यथास्थान में संनिवेशित करके प्रत्येक सर्ग के परीक्षोपयोगी संक्षिप्त हिन्दी कथासार भी दे दिये गये हैं । [का. ८७] द्वितीय संस्करण ३॥)

प्रतिमानाटकम्

‘प्रकाश’ नामक संस्कृत हिन्दी टीका द्वयोपेतम् ।

टीकाकार—श्री रामचन्द्र मिश्र प्रोफेसर धर्मसमाज संस्कृत कालेज मुजफ्फरपुर ।
महाकवि भास प्रणीत इस नाटक की ‘प्रकाश’ टीका का जितना वर्णन किया जाय थोड़ा होगा । इस टीका में प्रतिशब्द, पर्याय, कोश, व्याकरण, अलंकार, भावार्थ आदि से ग्रन्थ के अभिप्राय को बड़ी सरलता से व्यक्त किया गया है । २॥)

॥ श्रीः ॥

काव्यदीपिका

‘मयूख’ नामकसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयोपेता ।

प्रथमशिखा

मङ्गलाचरणम्—

मातरं हृदये ध्यात्वा विशदाम्बुजवासिनीम् ।

नीलाम्बुजदलश्यामं नीलाम्बुजदलेक्षणम् ।

सीताभिलाषिणं वन्दे राघवं भक्तवत्सलम् ॥ १ ॥

स्मरणाद्यस्य वादीन्द्राः मूकतां प्रतिपेदिरे ।

सूर्यनारायणं देवं तं नुमः पितरं मम ॥ २ ॥

न्यायव्याकरणाचार्यो मीमांसाकाव्यवारिधिः ।

रामगोविन्दशुक्लोऽयं श्रीमानायोध्यकः सुधीः ॥ ३ ॥

श्रीरामभद्रस्य पदारविन्दद्वयी सदा मे हृदये चकास्तु ।

यत्प्रोच्छलद्भूलिविलुप्तदोषे प्रकाशतां मेन्तरयं मयूखः ।

वाङ्मयस्य ग्रन्थस्य प्रारीप्सितत्वेन स्तोतुमुचितायाः सेव्यमानायाश्च वाग्देव्याः
आस्पदभूतां सरस्वतीं प्रारीप्सितप्रतिबन्धकदुरितशान्तये विद्वदग्रेसरः श्रीकान्तिचन्द्रो
भट्टाचार्यः स्तौति मातरमिति—विशदं च तदम्बुजं चेति विशदाम्बुजं तत्र
वसतीति विशदाम्बुजवासिनी तां, स्वच्छपद्मासनस्थाम् । मातरं जननीं सरस्व-
तीदेवीमित्यर्थः । अथवा विशदा चासावम्बुजवासिनी च विशदाम्बुजवासिनी तां,
शुक्लवर्णां कमलवासिनीं च सरस्वतीदेवीमित्यर्थः । तेन सर्वशुक्ला सरस्वतीति

विकसित कमलपर वास करनेवाली, किंवा स्वच्छ स्वरूप तथा कमलपर वास
करनेवाली, माताका हृदयमें ध्यान धरकर बालकोंके सुखपूर्वक ज्ञानके लिए काव्यदी-
पिका नामक ग्रन्थ बनाता हूँ ।

वक्तव्य—यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थोंके आधार पर ही बना है, अतएव ग्रन्थकर्ताने
उन्हीं ग्रन्थोंके मनोनीत लक्षणोंपर विचार किया है ।

बालानां सुखबोधाय क्रियते काव्यदीपिका ॥१॥

काव्यप्रयोजनम्—

‘काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥ [मम्मटः]

व्याख्यातम् । हृदये मनसि ध्यात्वा सञ्चिन्त्य बालानाम् अधीतव्याकरणकाव्य-
कोशानधीतालंकारशास्त्रो बालस्तेषाम् । नतु ग्रहणधारणाक्षमाणां स्तनन्धयानाम् ।
सुखबोधाय सुखेन अनायासेन बोधः ज्ञानं सुखबोधस्तस्मै ज्ञानसिद्धय इत्यर्थः ।
काव्यस्य कविनिबद्धालौकिकचमत्काराधायकवाक्यसमूहस्य दीपिका प्रकाशिका
ज्ञापिकेत्यर्थः । क्रियते मया इति शेषः । यथा स्वल्पा दीपिका घटपटादीनर्थान् प्रका-
शयति तथैवेयं दीपिकानि सर्ववादिसिद्धान् गुणालंकाररीत्यादीन् प्रकाशयतीत्यर्थः ॥१॥

ननु “सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः
सप्रयोजनः ॥” मी.श्लो. १।१।१।७। इति वचनात्, प्रयोजनमनभिसंधाय प्रेक्षावन्तो
न प्रवर्तन्ते अतः प्रयोजनमभिधानीयम् । अतः काव्यप्रयोजनमाह मम्मटस्तदेवाह
स्वग्रन्थे ग्रन्थकारः काव्यमिति । अत्र श्लोके कृतं वित् युज् शब्दाः क्विबन्ताः ।
तादर्थ्ये चतुर्थ्यः । काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्वरूपस्य कवेरसाधारणं तादृग्वर्णनात्मकं
कर्म । तत्काव्यं यशसे कीर्तये कालिदासादीनामिव यशःप्राप्तये । अर्थकृते
धनाय श्रीहर्षादिद्वाराधावकादीनामिव धनप्राप्तये । व्यवहार आचारस्तज्ज्ञानाय । शिवा-
दितरत् तस्य क्षतिस्तस्यै शिवेतरक्षतये दुरितनिवारणाय । मयूरशर्मादीनामि-
वानर्थनिवारणार्थमित्यर्थः । सद्यः श्रवणसमनन्तरमेव परनिर्वृतये रसा
स्वादजन्यवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यानन्दावाप्तये । शब्दस्तावत्रिविधः प्रभुसम्मितः, सुहृत्स-
म्मितः, कान्तासम्मितश्च । तत्रायः—वेदादिः शब्दप्रधानः निष्फलेऽपि सन्ध्यावन्द-
नादौ बलात् प्रवर्तयति । अकरणौ प्रत्यवायश्रवणात् । द्वितीयस्तु—पुराणोतिहासादिः ।
सुहृदिव “एवं कृत एवं सिद्धयति एवं कृते न सिद्धयति” इत्यभिधायैव निव-

काव्यका प्रयोजन कहते हैं ।

काव्य यश तथा धनके लिए, व्यवहारज्ञान तथा दुःखनाशके लिए रसास्वाद
कालमें द्वितीय राहित्य ज्ञान (आनन्दरूपता) के लिए और कान्ताके मधुर उपदेशोंके
समान उपदेशके लिए है ।

काव्यका पाठ करनेके अनन्तर ही अवाङ्मनसगोचर विलक्षण आनन्द प्राप्त होता

काव्यं हि पाठादिसमनन्तरमेवानिर्वचनीयविलक्षणानन्दाय, कालिदासादीनामिव यशःसम्पत्तये, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनाधिगमाय, लोकाचारादिपरिज्ञानाय, सुधामयेनोपदेशवचनेन रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदिति सत्पथप्रवर्तनाय, साधुविगर्हितवर्तमाननुवर्तनाय च,

र्तते । न तु बलात् प्रवर्तयति । कृते लभो भवति अकृते न भवति । न चाकृते प्रत्यवायः श्रूयते । तृतीयस्तु ताभ्यां विलक्षणः रसप्रधानः काव्यलक्षणः । अत आह कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजेइति कान्तायाः रमण्याः सम्मितं तुष्ट्यं तस्य भावस्तत्ता तयेत्यर्थः । यथा कान्ता पतिं स्वकीयया क्रियया अनुकूलं कृत्वा वशगं पतिं सर्वत्राभिप्रेते वस्तुनि प्रवर्तयति तथैव काव्यं रसास्वादसुखपिण्डदानद्वाराभिमुखी-कृत्योपदेशं प्राहयति । गुडजिह्वया शिशूनिवौषधम् । अत्रेदं बोध्यम्-यशो द्रव्यं शिवेतरक्षतिश्चेत्येतत्त्रयं कवेः प्रयोजनत्वेनोक्तम् । यद्यपि काव्यज्ञपण्डितस्यापि यशः प्रसरति, द्रव्यं च लभ्यते, स्तोत्रपाठेन शिवेतरक्षतिश्च भवति । तथापि कवेः पूर्वोक्तत्रयमेव नत्वन्यत्रयम् व्यवहारज्ञानं, परनिर्वृत्तिः, उपदेशयोगश्चेत्याशयः ।

मम्मटोक्तां कारिकां व्युत्क्रमेण कारिकापाठमनादृत्य व्याचष्टे काव्यं हीति-हीति निश्चये । पाठादिसमनन्तरमेव-अर्थानुसंधानात्प्रागपि अनिर्वचनीयविलक्षणानन्दाय भवति । याज्ञादिकर्मणः कालानन्तरं स्वर्गादिफलप्राप्तिः । लोकेऽपि कृष्यादिकर्मकृते सति तदनन्तरं फलप्राप्तिः । काव्यं तु न तथा श्रवणसमनन्तरमेवानिर्वचनीयानन्दानुभव इति भावः । कालिदासादीनामिव यशःसम्पत्तये यशःप्राप्तये । काव्यनिर्माणादेव कालिदासः सर्वत्र प्रशस्यते । श्रीहर्षनामकस्यराज्ञः सकाशात् धावकनामा पण्डितः रत्नावलीं नाम नाटिकां निर्माय बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः । नाटकादीनामध्ययनेन कथं वृद्धैः सह व्यवर्तव्यं कथं मित्रैः कथं वा पुत्रैरिति विवेको जायते । सुधामयेन श्रवणसुखदेन उपदेशवचनेन वृद्धवाक्येन रामादिवत्प्रवर्तितव्यं-राम इव कार्यं करणीयम्, न रावणादिवत्-न रावणइव लोके तस्य निन्दाश्रवणात् । सत्पथप्रवर्तनाय परिस्त्रीहरणादौ पापं ज्ञात्वा तत्राप्रवर्तनाय साधुः सज्जनः विद्वानित्यर्थ-

है । कालिदासादि कवियोंकी तरह यशःप्राप्ति, श्रीहर्षादिके द्वारा धावकादि कवियोंको धनप्राप्ति, लोकाचारका ज्ञान, अमृतमय उपदेशों द्वारा रामकी तरह आचरण करना रावणकी तरह न करना इत्यादि सन्मार्ग प्रदर्शन, सज्जनोंसे निन्दित मार्गका परित्याग

तत्तद्भाषासु व्युत्पत्तिलाभाय च यथायोगं कवेः पाठकानां च भवतीति बहुफलतया काव्यस्य तल्लक्षणादिकमवश्यमवगन्तव्यं धीमतामिति प्रथमतः काव्यस्य लक्षणमाह—

कथ्यते काव्यम् 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदाऽऽवली ॥ ३ ॥ [दण्डी]

इष्टाः—अलौकिकचमत्कारित्वेन सहृदयमनोरमाः, अर्थास्तैर्व्यवच्छिन्ना—विलक्षणीकृता, पदावली—पदसमूहः, काव्यम् । 'रिपुस्ते मृतः' 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिवाक्येन जनितस्य आह्लादस्य न लोकोत्तरत्वमिति न तत्र काव्यत्वप्रसक्तिः । तथा च 'लोकोत्तरचमत्कारितया सहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम् ।

स्तेन विगर्हितं निन्दितं यद् वर्त्म मार्गं कार्यं वा तत्राननुवर्तनाय अकरणाय च । तत्तद्भाषासु संस्कृतप्राकृतादिषु व्युत्पत्तिः योग्यता तल्लाभाय ज्ञानाय च यथायोगं पूर्वोक्त-फलत्रयं कवेः ग्रन्थनिर्मातुः, अपरं च पाठकानां अध्ययनकर्तृणां च भवति उत्पद्यते इति बहुफलतया काव्यस्य लक्षणमवश्यमवगन्तव्यं ज्ञानविषयः कर्तव्यः धीमतां बुद्धिमतामिति प्रथमतः काव्यस्य लक्षणमाह—

कथ्यते काव्यमिति । इष्टा हृद्या रसाद्यनुगमेन मनोहरेत्यर्थः । ये वाच्यलक्ष्य-व्यङ्ग्यमेदेन विविधा अर्थास्तैः व्यवच्छिन्ना पदावली पदसमूहः काव्यं कथ्यते । इदं काव्यादर्शं श्रीदण्डिनः लक्षणम् ।

लक्षणस्य व्याख्यानमाह—इष्टेति । सहृदयमनोरमाः सहृदयः—काव्यभावनाभावितान्तःकरणः तेभ्यः मनोरमा आह्लादिकाः । ननु शत्रुवधजनितहर्षस्य लोकेऽपि आह्लादकत्वं वर्तते, तथा च आह्लादकरूपेष्टत्वस्य तत्र सत्त्वेन काव्यत्वं स्यादिति चेन्न । अलौकिको लोकोत्तरो यश्चमत्कारः विच्छित्तिविशेषः तद्वत्त्वेन सहृदयहृद्याह्लादकत्वं बोध्यते । लोकोत्तरचमत्कारश्च काव्यनाटकाद्यभ्यासजनितः सहृदयहृद्याह्लादकः सुखवि-

एवं उन उन भाषाओंका परिज्ञान आदि फल कवि और पाठकोंको लब्ध होते हैं । इस प्रकार काव्यके बहुत फल हैं । अतः काव्यके लक्षणका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए । इसलिए प्रथमतः काव्यका लक्षण कहते हैं—

काव्यका लक्षण दण्डिभट्टने कहा है—हृदयको आप्यायित करनेवाले अर्थोंसे युक्त पदसमूहको काव्य कहते हैं । इष्ट (अलौकिक चमत्कार जनक होनेके कारण सहृदयहृद्याह्लादक) जो कविनिबद्ध पदार्थ, उनसे व्यवच्छिन्न (अलंकृत) पदावली पदसमुदायको 'काव्य' कहते हैं । 'तेरा शत्रु मर गया' 'तेरे घर पुत्र पैदा हुआ' इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न हर्ष लोकोत्तर नहीं है । अतः इन वाक्योंमें काव्यत्व

तन्नाम वाक्यं काव्यं, यत् खलु विलक्षणचमत्कारितया बलादिव
वशमानीय सामाजिकमनांसि रञ्जयति । यथा—

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्यरूपस्य सम्भवः ।

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥१॥ [अभि० शा०]

शेषः । स चालौकिको भवति । तादृशलोकोत्तरचमत्कृतिमत्पदावली काव्यमिति फलितोऽर्थः ।

केचित्तु—निराकाङ्क्षस्य पदसमूहस्य काव्यत्वव्यवहारनिरोधाय साकाङ्क्षेति
विशेषणं देयमिति वदन्ति ।

ननु रिपुस्ते मृतः, पुत्रस्ते जातः इत्यादि वाक्यश्रवणसमनन्तरजनिताहादविशेषे-
तिव्याप्तिरतस्तद्वारणायालौकिकेति । काव्यस्य निष्कृष्टं लक्षणमाह—तथा चेति-
तदैव स्फुटीकरोति ।

तन्नामेति । यद् वाक्यं विलक्षणचमत्कारित्वे सहृदयहृदयाकर्षितया सामाजि-
कमनांसि बलाद्वशमानीय रञ्जयति । सामाजिकश्चात्र सहृदयः काव्यनाटकपरिशीलन-
परिपक्वमतिः । तेन नैयायिकजरन्मीमांसकाद्यरसिकादौ न व्यभिचारः । यदा तेऽपि
सहृदयास्तदा तेषामपि भवत्येवेति तात्पर्यम् ।

अथोदाहरणेन संगत्य दर्शयति—मानुषीभ्य इति । कालिदासीये शाकुन्तल-
नाटके कण्वाश्रमस्थायाः परमसुकुमार्याः शकुन्तलायाः रूपमवलोक्य हस्तिनापुरा-
धीशस्य दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । मानुषीभ्यः मनुष्यजातिभवाभ्यः अस्य पुरोदश्य-
मानस्य शकुन्तलासम्बन्धि रूपस्य सौन्दर्यस्य सम्भवः उत्पत्तिः कथं नु केन
प्रकारेण स्यात् न केनापीत्यर्थः । नु पृच्छायाम् । स्वपक्षं दृढयति नेति । प्रभातरलं
प्रभया त्विषा तरलं भास्वरं । 'तरलं चञ्चले षिङ्गे हारमध्यमणावपि । भास्वरे चेति'
विश्वः । ज्योतिः सविता वसुधातलात्—वसुधयास्तलं पृथ्वीतलं तस्मात् भूतलान्नो
नहि उदेति उदयं गच्छति "ज्योतिर्दिनेशानक्तयोरपि स्या"दिति विश्वः । यथा वसुध-
तलात् सूर्यचन्द्रमसोः उद्गमो न शक्यते वक्तुम्, तथैव मानुषीभ्यः रूपवत्याः शकु-
न्तलायाः नोद्गमो इति राज्ञो भावः ।

व्यवहार नहीं होता । अतः लोकोत्तरचमत्कार द्वारा सहृदय (रसिक) के हृदयको
आकर्षित करनेवाला ही 'वाक्य' काव्य है ।

जिस वाक्यके सुननेसे उत्पन्न विलक्षणचमत्कार सामाजिकोंके मनको बलपूर्वक
वशमें करके अनुरक्त करे, वह वाक्य काव्य कहा जाता है । जैसे—

मानुषीभ्यः—ऐसे सुन्दर रूपकी उत्पत्ति मानवी स्त्री से कैसे हो सकती है ? क्योंकि
प्रभासे चमकती हुई ज्योति पृथ्वीसे उत्पन्न नहीं हो सकती है ।

उगिण्णदम्भकवला मई परिच्चत्तणत्तणामोरी ।

ओसरिअपांडुपत्ता मुंअंति अस्सुं विअ लदाओ ॥२॥

[अभि०शा०]

संस्कृतम्—

उद्गीर्णदम्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी ।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लताः ॥

अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम् ।

अपरमुदाहरति-उगिण्णोति । पतिगृहं प्रस्थितायाः शकुन्तलायाः प्रस्थानकाले तदसह्यविरहव्याकुलितस्य सकलस्य तपोवनस्य प्रियंवदामुखेन वर्णनेयम् । उद्गीर्णः बद्धान्ता दम्भस्य कुशस्य कवलाः ग्रासाः यया सा एवं-भूता मृगी हरिणी । तद्वियोगाद् परित्यक्तभोजना इत्यर्थः । मयूरी च परित्यक्तं परिहृतं नर्तनं नृत्य-व्यागारो यया सा आसीत्, इति शेषः । नृत्यपराङ्मुखी आसीदित्यर्थः । लताश्च व्रतत्यस्तु “वल्ली तु व्रततिर्लताः” इत्यमरः । अपसृतानि अपगतानि पाण्डूनि परिणतानि पत्राणि गम्यस्ताः । अश्रु वाष्पमिध सदृशी मुञ्चन्ति त्यजन्ति किरन्ति इत्यर्थः । वसन्तसमये कुशानां कर्कशत्वात् मृगीणां भक्षणाद् विरामकारणम् । मेघाभावात्, मयूरीणां नर्तनाद्विरामः, परिपाकाद्बृक्षाणां पत्रत्यागश्च स्वाभाविकः । तत्र शकुन्तलाविरहजोऽयमिति उत्प्रक्षितत्वेनाऽयमुत्प्रेक्षालंकारः । आर्या वृत्तम् ।

उत्तररामचरिते रामं प्रति वनदेव्याः वासन्त्याः उक्तिरियम् । अयीति । अयि इति सप्रणयसम्बोधने । कठोर ! कठिनहृदय ! निष्ठुर ! रामेति शेषः । ते तव किल निश्चयेन यशः कीर्तिः प्रियं अभिमतम् । प्रकृत्यनुरञ्जनाय पतिव्रतायाः प्राणसमायाः सीतायाः परित्यागेन यशो रक्षणप्रयासः । किन्तु अतः परम् इतोऽधिकम् घोरं अधिकम् अयशः अकीर्तिकरं किम् । ननु निश्चयेन । अर्थात् निर्दुष्टायाः प्रियतमायाः निर्वासनरूपाविचार्यकार्यकारित्वरूपायाः अकीर्तेः परं किमन्यल्लब्धम् । यशः संगृहीतुमिच्छोस्ते अयश एव हस्तेलग्न इति महदौर्भाग्यं ते

उद्गीर्ण—शकुन्तलाके विरह की व्यथासे मृगीने कुशके कवल (ग्रास) को उगल दिया । मयूरीने अपने नर्तनको बन्दकर दिया । पत्तोंके गिरानेके व्याजसे मानों लतायें आंसू बहा रही हैं ।

किमभवद् विपिने हरिणीदृशः कथय नाथ ! कथं वत मन्यसे ॥३॥

[३० रा० च०]

इति काव्यनिरूपणं नाम प्रथमशिखा ।

द्वितीयशिखा

अन्वितैकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः ।

इति भावः । हे नाथ ! अशरणशरण ! हरिणीदृशः हरिण्याः मृग्याः दृशौ नयने इव दृशौ नयने यस्यास्तस्याः चपलनेत्रायाः । सीताया इत्यर्थः । विपिने अरण्ये किम् अभवत् , किं वृत्तमिति, जानासीति शेषः । कथय ब्रूहि वत खेदे त्वं कथं मन्यसे किं सम्भावयसि । अकारणकरुणोऽपि अशरणशरणः सन्नपि गर्भभरालसायाः चपलायताद्याः सीतायाः अरण्ये कथं रक्षणं यातम् , अथवा का दशा अभवत् इति कथय ।

अनेन त्वदुरसि सुप्तायाः अरण्यपरित्यागरूपेण शरणागतरक्षणविमुखेन त्वया अयश एवोपार्जितमिति भावः ।

एतानि उपरितनानि वाक्यानि पदसमूहानि पाठानन्तरमेव पठनाव्यहितोत्तरक्षणे एव कमपि अनिर्वचनीयं लोकोत्तरमानन्दं सहृदयानां मनसि आतन्वन्ति विस्तारयन्ति इति तेषां काव्यत्वमित्यर्थः ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य-शिक्षाशास्त्रि-श्रीरामगोविन्दशर्मशुक्लविरचितः

काव्यदीपिकायाः प्रथमशिखायां मयूखः समाप्तः ।

अन्वितेति — अन्वितस्याकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तियुक्तेन परस्परान्वितस्यैकार्थस्य

अपीति— ऐ कठोरहृदय ! राम ! तुम्हें यश प्रिय है, किन्तु इससे बढ़कर अयश और क्या हो सकता है ?। वनमें मृगनयनी सीताकी क्या दशा हुई ? हे नाथ ! उसके जीवनके विषयमें तुम क्या मानते हो (समझते हो) हाय ! कहो ।

इन वाक्योंके पढ़नेसे ही कोई विलक्षण आनन्द सहृद्योंको होता है, अतः ये 'काव्य' कहे जाते हैं ।

यह न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य शिक्षाशास्त्री श्रीरामगोविन्दशुक्ल की रची हुई, काव्यदीपिकाकी किरण नामकी टीकामें प्रथम शिखा समाप्त हुई ।

पदानां प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि तेषामर्थो नान्वितः, वाक्यन्तु तदन्त-
र्गतपदार्थसमुदितमेकमर्थं बोधयति । यथा—‘जननी सुताननं सस्नेह-
मीक्षते’ ।

‘सुप्तिङन्तं पदं’ प्राह पाणिनिर्मुनिसत्तमः ॥१॥

बोधे सत्येव पदसमुच्चयो वाक्यमिति कारिकार्थः । अन्वितैकार्थबोधजनकत्वे सति
पदसमूहत्वं वाक्यत्वमित्यर्थः ।

ननु पदसमुच्चयो वाक्यमित्येव लक्षणं कार्यं किमअन्वितैकार्थबोधेति पदेनेति
चैन्न; गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादि पदसमूहानामपि वाक्यत्वापत्तेः । नचार्थबोधकत्वे
सतीति विशेषणीयमिति वाच्यम् तथैव दोषात् । अतः अन्वितेति ।

पदानामिति । सुबन्ततिङन्तपदानामित्यर्थः । प्रत्येकमिति । गवादिपदानां प्रत्येकं
सार्थकत्वेऽपि तेषां गवादीनामर्थो नान्वितं समुदितमेकमर्थं बोधयति ज्ञापयतीत्यर्थः ।
उदाहरणमाह—यथेति जननी माता सुतस्याननं तनयमुखं स्नेहेन सहितं सस्नेहं
प्रेम्णा ईक्षते अवलोकयतीति वाक्यार्थः ।

वाक्यलक्षणघटकीभूतं पदसमुच्चयपदं तत्र विशेषणीभूतं पदत्वं किमितिति पदस्व-
रूपमाह—सुप्तिङन्तमिति । मन्तारो वेदशास्त्रावगन्तारो मुनयः तेषु सत्तमः मुनिश्रेष्ठः
पाणिनिः व्याकरणशास्त्रस्य प्रणेता आचार्यः (सुप्तिङन्तं पदम्) इति सूत्रेण सुबन्तस्य

वाक्योंका स्वरूप कहते हैं—

आकाङ्क्षा^१, योग्यता^२ और आसक्ति^३ द्वारा परस्पर अन्वित पदोंसे जहाँ अर्थबोध
होता हो, उस पदसमुदायको ‘वाक्य’ कहते हैं ।

गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती इत्यादि पद सार्थक होनेपर भी परस्पर अन्वित होकर
एकार्थ बोध नहीं कराते; अतः वाक्य नहीं कहे जा सकते । वाक्य तो वही कहा जा
सकता है, जो एक पदसमूहसे सम्बद्ध एक ही अर्थका बोध करावे । जैसे—माता स्नेह
से पुत्रका मुख देखती है ।

पदस्वरूप कहते हैं—

मुनिश्रेष्ठ पाणिनिने सुबन्त और तिङन्तको पद कहा है । जैसे रामः, कृष्णः,
भवति, पृथते, ये सुप्प्रत्ययान्त, तिङ्प्रत्ययान्त शब्द पद कहे जाते हैं ।

१—आकाङ्क्षा—प्रतीतिपर्यवसानविरहः ॥ (पदार्थप्रतीतिकी समाप्ति का अभाव ।)

२—योग्यता—पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः । (पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें
बाध न होना ।)

३—आसक्तिः—बुद्धयविच्छेदः । सन्निधिरिति यावत् । (बुद्धिका अविच्छेद ।)

सुबन्तः तिङन्तश्च शब्दः पदम् । यथा—‘रामः’, ‘भवति’ इत्यादि ।

शब्दः पुनस्त्रिविधः, यथाह मम्मटभट्टः—

‘स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा’ ।

अर्थोऽपि शब्दप्रतिपाद्यस्त्रिविध एव—वाच्यः, लक्ष्यः, व्यङ्ग्यश्च

‘वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः मम्मटेन यथोदिताः ॥२॥’

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

‘साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥३॥ [मम्मटः]

तिङन्तस्य च शब्दरूपस्य पदत्वेन व्यवहारः कृतः । एतदेवाह—पदमिति । उदाहरति—यथेति । राम इति एकं पदं सुबन्तम् । भवति इत्यपरं पदं तिङन्तम् ।

ननु सुबन्तः तिङन्तश्च शब्दः पदमित्याह तत्रशब्दः कतिविधि इति जिज्ञासायां शब्दविभागमाह—शब्दः पुनस्त्रिविध इति । स्याद्वाचक इति । अत्र अस्मिन् शाब्दे शब्दः वाचकः लक्षकः व्यञ्जकश्चेतित्रिविधः ।

ननु सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे इति भाष्यम् शब्दस्य अर्थेन सह सम्बन्धः सिद्धः नित्य इत्यर्थः । तथा च एषां शब्दानामर्थाः के इत्यपेक्षायामाह अर्थोपीति यथा शब्दस्त्रिविधस्तथा शब्दप्रतिपाद्योऽर्थोऽपि त्रिविध इत्यपिना द्योत्यते । स च वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदेनेति भावः । वाच्यादय इति वाच्यादयः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यास्तस्यार्थास्तदर्थाः शब्दार्था इति मम्मटेन मम्मटाचार्येण यथाशास्त्रं उदिता उक्ता इत्यर्थः ।

वाचकादीनामिति—एषां शब्दार्थभेदेन वाचकवाच्यादीनां भेदं प्रदर्श्य वाचकादीनां शब्दानां उद्देश्यक्रमप्राप्तं स्वरूपमाहेत्यर्थः । स्वं लक्ष्यपदार्थो रूप्यते अनेनेति स्वरूपं लक्षणम् इतरभेदकमिति यावत् ॥ साक्षादिति—यः शब्दः

शब्दोंका विभाग कहते हैं ।

शब्दतो तीन प्रकारका होता है । जैसा मम्मटभट्टने काव्यप्रकाशमें कहा है । कि—वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक भेदसे साहित्यशास्त्रमें तीन प्रकारका शब्द माना गया है ।

अर्थ भेद कहते हैं ।

शब्दोंसे प्रकटित अर्थ भी तीन प्रकारका होता है । वाच्य, लक्ष्य, और व्यङ्ग्य । जैसे मम्मट भट्टने कहा है वैसे हम भी कह रहे हैं ।

वाचकादिक शब्दोंके स्वरूप लक्षण कहते हैं ।

साक्षात्, संकेतित अर्थको जो बतलावे वह ही वाचक कहा जाता है । साक्षात्,

साक्षात् संकेतितस्तु 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' इति शब्द-
स्य स्वाभाविक्या शक्त्या व्याकरणादिना वा नियन्त्रितः । इयमेव
शक्तिः 'अभिधा' इत्युच्यते । अनया बोध्योऽर्थः वाच्यः, स च साक्षात्
बोध्यत्वेन प्रधानतया मुख्यार्थ इत्यप्यभिधीयते । यथा-गो शब्दोऽभिधया-
गलकम्बलादिमज्जीवविशेषरूपं, पाचकशब्दश्च पाककर्तृरूपं चार्थं
साक्षात् बोधयति ।

[शब्दस्य स्वाभाविकीं शक्तिं सर्वे नाद्रियन्ते, रूढि[ठ] सम्मति-

साक्षात्, संकेतितमव्यवधानेन गृहीतसंकेतम् अर्थं अभिधत्ते प्रतिपादयति सशब्द-
स्तस्यार्थस्य वाचक इत्यर्थः । अभिधत्ते इत्यस्य अभिधया प्रतिपादयति इत्यर्थे तु
वाचकस्य शब्दस्यैवाभिधात्वेनान्योन्याश्रयः स्यात् । साक्षात् संकेतितमित्यस्य वैय्य-
र्थ्याच्चेति भावः ।

ननु साक्षादर्थविषयकबोधजनकत्वरूपमेव वाचकत्वमस्तु कृतं संकेतितपदनिवे-
शेनेति चेन्न चेष्टयाः साक्षादर्थप्रतिपाकत्वात् वाचकत्वापत्तेः । अतः संकेतिमिति ।

साक्षात् संकेतितस्त्विति—साक्षात् संकेतितपदेन शक्तिग्राहकः समयः ।
स च अस्मान्छब्दादयमर्थोबोधव्य इतीश्वरसंकेतरूपः । शब्दस्य स्वाभाविक्या
नैसर्गिकशक्त्या व्याकरणादिना वा नियन्त्रितः नियमितः । इयमेव शक्तिः (अभिधा)
इत्युच्यते । अनया अभिधया बोध्योऽर्थः वाच्यः । स च साक्षात् बोध्यत्वे प्रधान
तया मुख्यार्थ इत्यप्यभिधीयते । उदाहरति यथेति—गो शब्दोऽभिधाया अभि-
धाख्यया शक्त्या गलकम्बलादिमज्जीवविशेषरूपं सास्नादिरूपं व्यक्तिविशेषं
साक्षाद्बोधयति । पाचकशब्दश्च पाककर्तृरूपं चार्थं साक्षात् बोधयति । केषांचिन्मत-
माह-शब्दस्येति । रूढिसम्मतिरिति । यं कमपि अर्थं जनसमूहः केनापि शब्देन

संकेतित अर्थ जैसे (इस शब्दका यह अर्थ है ।) इन शब्दोंकी स्वतः सिद्ध शक्ति
व्याकरणादिकोंके द्वारा नियन्त्रित है । (जैसे घट शब्दके उच्चारणसे घट अर्थ
जानना) । यह ही अभिधा नामकी शक्ति कही जाती है । इस शक्तिसे बोध्य अर्थ
वाच्य कहा जाता है । वह ही पदार्थका प्रधान्येन बोधक होनेके कारण मुख्यार्थ कहा
जाता है । जैसे गो शब्द अभिधाशक्ति द्वारा सास्नादियुक्त जीव (गौ) को कहता है ।
एवं पाचक शब्द पाक करनेवाले ब्यक्तिको साक्षात् बोध कराता है ।

(शब्दकी स्वाभाविक शक्ति (अभिधा) को कुछ ग्रन्थकार नहीं मानते । उनके
मतसे रूढिसम्मति (लोकप्रसिद्धि) ही शब्दोंके अर्थ बतलानेमें कारण है । उनके

रेव शब्दानामर्थवाचने हेतुरिति केचिदाचक्षते । तथाच अभिधापि तन्मते लक्षणाव्यञ्जने इव आरोपितैवेत्यलमतिगहनावगाहनेन ।]

व्यवहरेत् सा रुढिसम्मतिःसैव शब्दानामर्थबोधने हेतुः । नतु शक्तिरिति वदन्ति । एवं च अभिधापि अभिधाशक्तिरपि लक्षणाव्यञ्जने इव कल्पितैवेति भावः । इदं चाकरादावप्रसिद्धं मतं कुतश्चिदापतितमिव प्रतिभाति । अथवा इयं रुढिसम्मतिः अभिधापरपर्यायेति ब्रूमः ।

अत्रेदं बोध्यम्—साक्षात् संकेतितेन पदेन शक्तिग्रहस्तु कुत्रचित् 'उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य गामानय इत्युक्ते सति पश्चात् मध्यमवृद्धद्वारा गवानयनं दृष्ट्वा पार्श्वस्थो बालः तत्र व्यक्तौ गामानय पदवाच्यत्वमवधारयति । ततः गां बधान, अश्वमानय इति मध्यमवृद्धेन प्रयुक्ते अवापोद्वापाभ्यां सास्त्रादिमद्वयक्तौ गोत्वं एकसफे च अश्वत्वमवधारयति पार्श्वस्थो बालकः । व्याकरणकोशादितोऽपि शक्तिग्रहो भवति । तदुक्तमाचार्यैः—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्यवहारतश्च

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः ।

तत्र व्याकरणात् पाचकः, उपमानाद् यथ गो सदृशो गवयः । कोषात् इन्द्रो-
मरुत्वान्मघवा । आप्तवाक्यात् यथा अयमश्वपदवाच्यः । व्यवहारात् यथा—उपर्युक्तः ।
सान्निध्यतः यथा—इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि पिबति मधुकरः । अत्र कमले यः
कृष्णः स भ्रमरपदवाच्यः । वाक्यस्य शेषात् यथा यवमयश्चरुर्भवति इति वाक्ये यव
शब्देन आर्यप्रसिद्धस्य यवस्य ग्रहणं उक्तं म्लेक्षप्रसिद्धस्य कङ्गोः इति संशये वसन्ते
सर्वं शस्यानां जायते पत्रं शातनम् । मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिश शालिनः ।
इतिवाक्यशेषात्—वसन्तोद्भवस्य यवस्यैव ग्रहणम् । विवृतेः यथा—रामोदाशरथिः ।
तेन परसुरामस्य व्यवच्छेदः क्रियते । इति तत्त्वम् ।

मतसे अभिधा भी लक्षणा और व्यञ्जना के समान आक्षेपित ही है । अधिक अगाधमें प्रवेश करना व्यर्थ है । यद्यपि रुढिसम्मति ही अभिधाके नामसे आकर ग्रन्थोंमें वर्णित है । अतः नाम मात्रका विवाद कहना ठीक भी है । तथापि अभिधाको भी वाच्यार्थकी अपेक्षा विचित्र अर्थ बोधक मान लेनेसे यह ज्ञात होता है कि यह मत तात्पर्याख्या वृत्तिको स्वीकार करके ही प्रवृत्त है और तात्पर्याख्या वृत्तिको ही अभिधाके नामसे कहता है । कुछ भी हो इसी पक्षमें चार वृत्ति माननी पड़ती है अतः यह पक्ष उचित नहीं है ।

लक्षणया अर्थबोधकः शब्दो लाक्षणिकः । तथा बोध्योऽर्थः लक्ष्यः ।

‘मुख्यार्थबाधे तद्व्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता’ ॥४॥ [विश्वनाथः]

मुख्यार्थस्य अन्वयानुपपत्तिग्रहे तदर्थसम्बन्धी अन्योऽर्थः रूढि-
प्रयोजनयोरन्यतरस्मिन् हेतौ सम्भवति यया प्रतीयते, सा वृत्तिर्लक्षणा
नाम । रूढिः—प्रसिद्धिः । यथा—‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यत्र कलिङ्ग-
शब्दो देशविशेषरूपे स्वाभिधेयेऽर्थेऽसम्भवन् तद्देशवासिनः पुरुषान्

लक्षणया इति । लक्षणाख्यया वृत्त्या अर्थबोधकः शब्दः लाक्षणिक इत्यर्थः ।
तथा लक्षणत्यर्थः ।

वाचकस्य निरूपणमुक्त्वा क्रमप्राप्तां लक्षणां निरूपयति—मुख्यार्थेति—मुख्या-
र्थस्य अभिधेयार्थस्य साक्षात् संकेतितस्तेत्यर्थः । बाधे—अन्वयानुपपत्तिग्रहे तद्व्युक्त-
मुख्यार्थसम्बन्धीत्यर्थः । यया वृत्त्या अन्यार्थस्य मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्माव-
च्छिन्नस्य गंगायां घोष इत्यादौ तटादिरूपार्थस्य रूढेः रूढितः प्रयोगप्रवाहादि-
त्यर्थः । प्रयोजनात् । शैत्यभावजत्वादिप्रतीतिरूपफलाद्वा । प्रतीयते प्रतीतिविषयो
भवति प्रतिपाद्यते इति यावत् । असौ वृत्तिः अर्पिता मुख्यार्थत्यागवती लक्षणानाम् इति
कारिकार्थः ।

मुख्यार्थस्येति—गंगायां घोषः इत्यादि वाक्ये मुख्यार्थस्य गंगापदार्थप्रवाह-
रूपस्य तत्र घोषाधारतानुपपत्त्या अन्वयानुपपत्तिग्रहात् मुख्यार्थसम्बन्धी अन्यार्थः
तटार्थः प्रयोजनात् भवति सा वृत्तिः लक्षणा नामेत्यर्थः । रूढिः यथा ‘कलिङ्गः साह-
सिकः’ अत्र देशविशेषवाचके कलिङ्गशब्दे साहसिकत्वरूपे स्ववाच्यार्थे असम्भवन्

लक्षणा वृत्ति द्वारा अर्थबोधक शब्द लाक्षणिक होता है । उससे बोध्य अर्थ लक्ष्य
कहा जाता है ।

लक्षणाका स्वरूप कहते हैं ।

मुख्यार्थ (अभिधा वृत्तिसे नियन्त्रित) के बाध होनेपर मुख्यार्थसे सम्बद्ध
अन्यार्थकी प्रतीति जिस वृत्तिसे होती हो वह लक्षणा नामकी शक्ति कही गई है ।

मुख्यार्थका अन्वयानुपपत्तिके कारण मुख्यार्थसे सम्बद्ध द्वितीय अर्थ रूढि या
प्रयोजन रूप कारणके रहनेसे जिस वृत्तिसे प्रतीत होता है वह लक्षणा नामकी वृत्ति
है । रूढिका अर्थ प्रसिद्धि है । जैसे (कलिङ्गः साहसिकः) इस वाक्यमें कलिङ्ग शब्द
देश विशेषरूप अपने मुख्यार्थ द्वारा साहसिकत्व को असम्भव समझकर उस देशके

बोधयति । प्रसिद्धिश्च अत्र हेतुः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र च गङ्गाशब्दः प्रवाहविशेषरूपस्वाभिधेयमर्थं बोधयितुमसमर्थः सामीप्यसम्बन्धसम्बन्धिनं तटं बोधयति । हेतुश्चात्र शीतत्वपावनत्वातिशयबोधनरूपं प्रयोजनम् ।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ? सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदोदशमेव सदा सखे ! सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥४॥

कलिङ्गदेशवासिनः पुरुषान् बोधयति । तेन कलिङ्गः कलिङ्गदेशवासी पुरुषः साहसिक इत्यर्थो रूढ्या लभ्यते ।

सामीप्यसम्बन्धसम्बन्धिनमिति सामीप्य सम्बन्धेन सम्बन्धिनं तटं बोधयति । शेषं सुगमम् ।

उपकृतमिति—अपकारिणं प्रति कस्यचिदुक्तिरियं । हे मित्र ! बहु उपकृतं तत्र उपकार विषये किमुच्यते न किमपि वक्तुं शक्यते । भावार्थस्तु भवदीयमेतादृशमपकारं स्मारं स्मारं दुनोति चेतः न च प्रभवति किमप्यत्र विषये वक्तुं । अपकारातिशयः व्यङ्ग्यः । भवता त्वया परम्—केवलं सुजनता सौजन्यव्यवहारः प्रथिता प्रख्यापितः । अर्थात् तव दौर्जन्यं लोकप्रसिद्धिं गतम् । हे सखे ! ईदृशमेव कृत्यं विदधत् कुर्वत् सत् ततः तदनन्तरं शरदां शतं शतवर्षाणि सुखितमास्व सुखितो भव । अर्थात् एवमकृत्यकारी त्वं इदानीमेव म्रियस्व । अथवा अनेकक्लेशमनुभवन् शतवर्षाणि नरकयातनासदृशानि दुःखानि अनुभूयतामित्यर्थः ।

वासी पुरुषों का बोधकराता है । अतः (कलिङ्गपुरुषः साहसिकः) यह वाक्य बन जाता है । इस लक्षणमें प्रसिद्धि ही मूल है । कलिङ्गशब्द देशके ही रूपमें प्रसिद्ध है ।

(गङ्गायां घोषः) इस वाक्यमें गङ्गाशब्दका मुख्यार्थप्रवाह है । गंगाके प्रवाहमें घोष (अहीरकी मड़ई) नहीं रह सकती । अतः गंगापद अपने मुख्यार्थ द्वारा अर्थ बतलानेमें असमर्थ होनेके कारण सन्निकटवर्तितटका बोध कराता है । अतः गङ्गायां घोषः इस वाक्यका (गङ्गातटे घोषः) यह अर्थ होता है । यह प्रयोजनवती लक्षणाका उदाहरण है । यहां पर प्रयोजन गङ्गामें जो शीतलता और पवित्रता है उसका घोषमें बतलाना मात्र है ।

उपकृतं । अपकारीके प्रति किसीकी व्यङ्ग्योक्ति है । हे सखे ! मित्र तुमने बहुत ही उपकार किया है इस विषयमें क्या कहूँ । आपने बहुतही बड़ी सुजनता प्रकट किया है । ऐसा ही कार्य करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष सुखी रहकर जीते रहो ।

इयं हि कश्चिदपकारिणं प्रत्युक्तिरिति मुख्यार्थस्यान्वयानुपपत्तेः
वैपरीत्यसम्बन्धेन अपकारादिरूपमर्थं ज्ञापयति । अपकाराऽऽद्यतिशय-
द्योतनश्चात्र प्रयोजनम् ।

इत्येवं सा द्विविधा रूढिमूला प्रयोजनमूला च ।

सेयं पुनर्द्विधा स्यादुपादानं लक्षणञ्चेति ॥ ५ ॥

उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा चेति सा लक्षणा पुनर्द्विविधा ।

स्वसिद्धये पराऽऽक्षेपेऽसावुपादानलक्षणा ।

वाच्यार्थस्य अन्वयसिद्धयर्थं लक्ष्यार्थस्य बोधने वाच्यार्थस्यापि
उपादानादियमुपादानलक्षणा । यथा—‘यष्टयः प्रविशन्ति’ इत्यत्र यष्टीनां

अथ लक्षणां निरूप्य तद्भेदानाह—इत्येवमिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण सा
लक्षणा रूढिमूला प्रयोजनमूला च द्विविधा द्विप्रकारा सेवमिति सा इयं लक्षणा
उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा भेदेन द्विप्रकारा इत्यर्थः । तदेव स्फुटयति उपादानेति—

तत्र उपादानलक्षणायाः विशिष्य लक्षणं निर्वक्ति स्वेत्यादि स्वस्य वाच्यार्थ-
स्यान्वयसिद्धये पराक्षेपं लक्ष्यार्थबोधने वाच्यार्थस्यापि उपादानादुपादानलक्षणा
असौ इति कारिकार्थः । एतदेव स्फुटयति—वाच्यार्थस्येति उदाहरति यथेति

इस उक्तिसे उपकार आदि शब्द अपने मुख्यार्थसे असंबद्ध होकर विपरीत सम्बन्ध
से (तूने मेरा बड़ा अपकार किया है, बड़ी दुर्जनता दिखलाया है ऐसा करते हुए
तुम दुःखित जीवन बिताओ) यह अर्थ बतला रहे हैं । अपकारातिशय यहां पर
व्यङ्ग्य है । अतः यह भी प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण हुआ ।

लक्षणा के भेद कहते हैं ।

प्रथमतः रूढिमूला प्रयोजनमूला भेदसे लक्षणा दो प्रकारकी होती है । पुनः
लक्षणलक्षणा, उपादानलक्षणा भेदसे दो प्रकारकी होती है । इस प्रकारसे रूढिमूला
उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा और प्रयोजनवती उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणाके भेदसे
चार प्रकार की लक्षणा हुई ।

अब उपादान लक्षणाके लक्षण कहते हैं ।

अपने अर्थको बोध करानेके लिए जहाँ पर दूसरे पदका आक्षेप किया जाय
उपादान लक्षणा कहते हैं ।

वाच्यार्थके अन्वयबोधके लिए जहाँ लक्ष्यार्थके बोधनमें वाच्यार्थसे सम्बद्ध लक्ष्यार्थका

स्वतः प्रवेशक्रिययाऽन्वयासम्भवात् प्रवेशान्वयार्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा
आक्षिप्यन्ते । अत्र च स्वार्थस्यापरित्यागात् इयम् 'अजहत्स्वार्था' इति
च कथ्यते ।

लक्षणलक्षणा —

परार्थमात्रबोधे तु भवेत्लक्षणलक्षणा ॥ ६ ॥

सर्वथा स्वार्थपरित्यागेनान्यार्थमात्रबोधने इयं लक्षणलक्षणा ।

यष्टयः प्रविशन्ति इत्यत्र यष्टीनां स्वतः प्रवेशनक्रियायाः असम्भवात् तत्सिद्धये
यष्टिसंयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते । तेन यष्टिसंयोगिनः पुरुषाः प्रविशन्ति इत्य-
र्थो लभ्यते । इति पुरुषैः सार्धं यष्ट्यादीनां प्रवेशनात् स्वस्यापि उपादानात्
स्वार्थस्यापरित्यागात् इयमुपादानलक्षणा नाम । इयमेव अजहत्स्वार्था नाम लक्षणा
च कथ्यते । न जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा अजहत्स्वार्था स्वार्थबोधसहकारेण
परार्थस्याच्चेप अजहत्स्वार्थायां वृत्तौ ।

अथ लक्षणलक्षणाख्यां लक्षणां लक्षयति—परार्थेति परार्थमात्रबोधे स्वार्थपरि-
त्यागेनान्यार्थमात्रबोधे तु लक्षणलक्षणाभवेत् । इति कारिकार्थः । तु शब्द उपा-
दानलक्षणाव्यवच्छेदाय । एतदेव स्फुटयति सर्वथेति । उदाहरणमाहयथेति-उप-
कृतं बहु इत्यादि । अत्रोपकारादयः शब्दाः अपकारादिरूपेऽर्थे परिणता अपका-

बोधक होता है । वह उपादानलक्षणा कही जाती है । जैसे (यष्टयः प्रविशन्ति) इस
वाक्यमें यष्टि (दण्डा) का स्वतः प्रवेश करना असम्भव है । अतः यष्टिपदसे
यष्टि सम्बन्धी पुरुषका आच्चेप किया जाता है ।

इस वाक्यमें स्वार्थका त्याग नहीं किया गया है यष्टि पदसे यष्टिसम्बन्धी पुरुषमें
लक्षणा हुई है । यष्टि पदका पुरुष अर्थ नहीं हुआ । अतः अपने अर्थके उपादानके
कारण यह उपादान लक्षणा हुई । इसीसे इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं । अर्थात् इस
लक्षणामें पद अपने स्वार्थको न छोड़कर अन्वयबोधके लिए पदान्तरका आच्चेप करके
उसके साथ स्वयं अन्वित होकर अर्थबोध कराते हैं ।

लक्षणलक्षणाका लक्षण कहते हैं ।

जो लक्षणा वाक्यके अन्वयबोधके लिए स्वार्थका परित्याग करके भी परार्थका
बोध करावे वह लक्षणलक्षणा कही जाती है ।

सर्वथा अपने स्वार्थका परित्याग करके अर्थ बोधन करानेवाली लक्षणा लक्षणल-
क्षणा कही जाती है । इसलिए इसे अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं । क्योंकि वह

अत एवासौ 'जहत्स्वार्था' इति च भण्यते । यथा पूर्वोदाहृते—'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादौ ।

व्यञ्जनयाऽर्थबोधकः शब्दः व्यञ्जकः तथा बोध्योऽर्थो व्यङ्ग्यः ।
व्यञ्जनास्वरूपमाह—

'विरतास्वभिधाऽद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः ।

तिशयश्च व्यङ्ग्यः । अत एवेति असौ लक्षणलक्षणैत्यर्थः । जहत्स्वार्था जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा जहत्स्वार्था । स्वार्थमपि परित्यज्य वाक्यार्थं बोधिका लक्षणैत्यर्थः । अस्याः लक्षणायाः जहत्स्वार्था इति नामान्तरम् इत्यर्थो भण्यते इति ।

अयमत्र निष्कर्षः—लक्षणा द्विविधा रुढिमूला प्रयोजनमूलाचेति, एवं उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणोति भेदात् चत्वारः । सम्प्रति स्वरूपं प्रदर्शयते—

| नामानि | उदाहरणानि |
|--------------------------------|----------------------|
| (१) रुढौ उपादानलक्षणा | श्वेतो धावति |
| (२) प्रयोजनमूला उपादानलक्षणा | कुन्ताः प्रविशन्ति |
| (३) रुढिमूला लक्षणलक्षणा | कलिंगः साहसिकः |
| (४) प्रयोजनमूला लक्षणलक्षणा | उपकृतमित्यादिश्लोकएव |

इत्थंच—उपादानलक्षणयाः उदाहरणो श्वेतादीनां कुन्तादीनां च अचेतनतया धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृत्वाभावात् स्वार्थबोधनाय स्वसम्बन्धिनः अश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते । प्रथमे रुढिः, द्वितीये अतिगहनत्वं प्रयोजनम् ।

लक्षणलक्षणायाः उदाहरणो प्रथमे साहसिकत्वस्य देशे असम्भवात् कलिंगशब्दः स्वार्थं परित्यज्य पुरुषरूपेण वाक्यार्थं बोधयति । द्वितीये अपकारिणं प्रति विपरीतः उक्तिरेव स्वार्थत्यागपुरस्सरं अपकारादिरूपमर्थं बोधयति अपकारातिशयश्च प्रयोजनमित्यर्थः ।

क्रमप्राप्तां व्यञ्जनां निरूपयितुमाहव्यञ्जनयेति विरतास्विति—अभिधा-

अपने अर्थको भी छोड़कर अन्वयबोध कराती है । जैसे पूर्वोदाहृत—उपकृतं—इस पद्यमें उपकारादि शब्द अपने मुख्यार्थको छोड़कर अन्यार्थ अपकारादि अर्थोंमें परिणत हो गए हैं ।

व्यञ्जनावृत्तिसे अर्थ बोधक शब्द व्यञ्जक, तथा उससे बोध्य अर्थ वाङ्ग्य कहा जाता है ।

व्यञ्जनका स्वरूप कहते हैं ।

अभिधा लक्षणा तात्पर्याख्या वृत्तियां जब अपना अपना व्यापार करके विश्रान्त

सा वृत्तिव्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च' ॥७॥ [विश्वनाथः
अभिधायां, लक्षणायाञ्च स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा विरतायां यया-
ऽपरोऽर्थो बोध्यते, सा वृत्तिव्यञ्जना नाम ।

व्यञ्जनाविभागः—

शब्दवदर्थोऽपि अर्थान्तरव्यञ्जकः, इति प्रथमतो द्विविधा व्यञ्जना—
शाब्दी, आर्थी च ।

शाब्दीव्यञ्जनाभेदौ—

शाब्दी च द्विविधा—अभिधामूला, लक्षणामूला च । यथाऽऽह

तात्पर्यलक्षणाख्यासु वृत्तिषु विरतासु स्वार्थबोधनेनोपक्षीणासु यया वृत्त्या अपरो व्यञ्जना-
त्मकोऽर्थः बोध्यते ज्ञाप्यते सा व्यञ्जनाख्या वृत्तिः शब्दस्यार्थादिकस्य च शब्दमूला
अर्थमूला भेदाभ्यां द्विविधा इति कारिकार्थः ।

अभिधायामिति—यद्यपि मूले अभिधा लक्षणा इति वृत्तिद्वयी एव निरू-
पिता । तदनुरोधेनैव मूले अभिधायां लक्षणयाञ्चेत्यादिकथनं युक्तम् । तथापि
अभिधायासु इति कारिकास्थवहुवचनेन आकरोक्ततात्पर्याख्यावृत्तेः परिग्रहः कृतो
मया । सा च तात्पर्याख्या वृत्तिः, 'तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने'
इति लक्षणेन प्राचीनाः लक्षयन्ति । नव्यमते सा नास्तीति हेतोः नात्राहता ।

कारिकार्थमाह अभिधायामिति । व्यञ्जनाभेदमाह—शब्दवदर्थोपीति । तत्र
शाब्दी व्यञ्जनां विभजते—शाब्दी चेति । प्रमाणमुपन्यस्यति—अभिधेति ।

हो जाती है उस समय जिस वृत्तिसे अन्यार्थकी प्रतीति होती है । वह व्यञ्जना
नामकी शब्द और अर्थमें रहनेवाली वृत्ति है ।

अभिधा तथा लक्षणा अपना अर्थ बोध कराके जब शान्त हो गई हो उस अवस्थामें
जो अन्यार्थकी प्रतीतिका प्रत्यायक है वह व्यञ्जना है । गंगायां बोधः इस वाक्यमें
अभिधाशक्तिने गंगापदका प्रवाहरूप अर्थ बतलाया उसके बाद गङ्गामें घोषकी अनुप-
पत्ति मूलक लक्षणा द्वारा गङ्गापदका गंगातट अर्थ हुआ इसके बाद लक्षणोपासनाका
प्रयोजनभूत जो शीतत्वपावनत्वादि प्रतीति होती है उस प्रतीतिकी प्रत्यायिका वृत्तिका
नाम व्यञ्जना है ।

व्यञ्जनाका भेद कहते हैं ।

शब्दकी भाँति अर्थ भी अर्थान्तर व्यञ्जक होता है । इसलिए शाब्दी व्यञ्जना
और आर्थो व्यञ्जनाके भेदसे व्यञ्जना दो प्रकारकी होती है ।

शाब्दी व्यञ्जनाके भेद कहते हैं ।

शाब्दी व्यञ्जना भी दो प्रकारकी होती है । एक अभिधामूला और दूसरी लक्षणा-

विशेषकं चिह्नम् । यथा—‘कपर्दी भीमः’ इति कपर्देन विशेषकेण भीमः—
शिवः । अन्यस्य—प्रसिद्धार्थस्य, शब्दस्य सन्निधिः—समभिव्याहारः ।
यथा—‘स्थलारविन्दश्रियम्’ इत्यत्र स्थलारविन्दसन्निधानेन श्रीः—
शोभा । सामर्थ्यम्—शक्तिः । यथा—‘मधुना मत्तः कोकिलः’
इति मधुः—वसन्तः, तस्यैव कोकिलमादने सामर्थ्यात् । औचित्ये—
युक्तता । यथा—‘गौरेका तु मनस्विनः’ इत्यत्र औचित्येन गौः—
वाक् । ‘भाति गगने चन्द्रः’ इति गगनरूपेण देशेन चन्द्रः—
शशाङ्कः । ‘रात्रौ विभावसुः’ इति विभावसुः—वह्निः, दिवसे तु सूर्यः ।
व्यक्तिः—स्त्रीपुंस्त्वादिकम् । यथा—‘मित्रं भाति’ इति नपुंसकलिङ्गेन
मित्रम्—बन्धुः । ‘मित्रो भाति’ इति मित्रः—सूर्यः । स्वराः—
उदात्ताऽऽद्यो वेद एव प्रसिद्धाः ।

राव्यादिः । व्यक्तिः । शब्दस्य पुंस्त्वादिर्लिंगम् । स्वरः उदात्तादिः । आदिपदेन
चेष्टादीनां ग्रहणम् ।

लिङ्ग = चिह्न—। ‘कपर्दी भीमः’ इस वाक्यमें भीम शब्दका पाण्डव तथा भयंकर
रूपादि अर्थमें शक्ति है । किन्तु कपर्दी रूप विशेषण (चिह्न) से भीम पदसे शंकर
का ही ग्रहण हुआ । प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् । ‘स्थलारविन्दश्रियम्’ इसवाक्यमें
‘श्रियम्’ शब्दसे शोभा तथा लक्ष्मी अर्थकी प्रतीति हुई किन्तु स्थलारविन्द पदके
सन्निधानसे श्रीका अर्थ शोभा ही हुआ । सामर्थ्य—‘मधुना मत्तः’ पिकः । इस
वाक्यमें मधु शब्दका अर्थ मद्य, पुष्परस, वसन्त आदि समझकर संदेह होता है कि
मधु पदका क्या अर्थ है । इस अर्थमें “मत्तः कोकिलः” पदके द्वारा कोकिल—मादन-
सामर्थ्य वसन्तमें देखकर “मधुः” का वसन्तः ज्ञान होता है । औचित्य—‘गौरेका तु
मनस्विनः’ इस वाक्यमें मनस्वियोंके एक ही गो होती है । इस अर्थमें गो पदका वाणी
अर्थ किया जाना ही उचित प्रतीत होता है, गाय आदि नहीं । अतः गौ पदका वाक्
अर्थ हुआ । देशः—‘भाति गगने चन्द्रः’ इस वाक्यमें चन्द्र पदसे चन्द्रगुप्तका बोध
नहीं होता । अतः आकाश देशमें रहनेके कारण चन्द्र पदसे शशाङ्क ही समझे
गए । कालः—‘रात्रौ विभावसुः’ इस वाक्यमें रात्रि समयको देखकर ‘विभावसुः,
अग्निः’ ही समझे जाते हैं । “दिवसे विभावसुः” कहनेसे सूर्य समझे जाते हैं । व्यक्तिः ।
स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्गादि । ‘मित्रं भाति’ इस वाक्यमें नपुंसक मित्र शब्दसे बन्धुका बोध
हुआ । और ‘मित्रो भाति’ इस वाक्यके पुलिङ्ग मित्र शब्दसे सूर्य अर्थ समझा गया ।
स्वरः—उदात्तादिक स्वर वेदमें ही होते हैं । अतः यहां उसका उदाहरण नहीं दिया ।

इत्थं संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थे नियमिते अर्थान्तरबोधन-
प्रतिरोधेन तन्मात्रे एव व्यवस्थापिते, यथा अर्थान्तरं बोध्यते, सा
अभिधामूला व्यञ्जना । यथा—

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।

दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज ॥ ५ ॥

[कुमारसं०]

इत्थमिति । इत्थमुक्तप्रकारेण संयोगार्थैः नियन्त्रिते शब्दे अर्थान्तरबोधनाय
व्यञ्जना अवश्यमेवोपास्या ।

व्यञ्जनास्थलं दर्शयति—**कुबेरगुप्तामिति ।** कामस्य शंकरविजयप्रस्थानकाले
असमयसमागतवसन्तर्तोः वर्णनमिदं कुमारसम्भवे । उष्णो रश्मिः यस्य तस्मिन् उष्ण-
रश्मौ तीक्ष्णदीधितौ, सूर्य इत्यर्थः । समयं कालं, धनुः संक्रान्तिमित्यर्थः । विलङ्घ्य
अतिक्रम्य कुबेरेण गुप्तां कुबेरगुप्तां कुबेरपालितां दिशम् आशाम्, उत्तरां दिशमित्य-
र्थः । गन्तुं प्रयातुं, प्रवृत्ते उद्युक्ते, सति, सूर्यं उत्तरायणे सतीत्यर्थः । दक्षिणा दिक्
दक्षिणदिशा, गन्धं वहति गन्धवहस्तं गन्धवहं मलयानिलं मुखेन स्वभागतः ।
व्यलीके निश्वासः व्यलीकनिश्वासः तं व्यलीकनिःश्वासं विपत्तिसूचकं निःश्वासं
मिव यथा उत्ससर्ज तत्याज । यथा कश्चन नायकः स्वां नायिकाम् असमये एव
परित्यज्य अन्यां प्रतिनायिकामाश्रयति दुःखयति च पूर्वां तथैव सूर्यं दक्षिणामाशा-
मसमये एव परित्यज्य उत्तरामाशामाश्रयति सति दक्षिणा दिक् मलयानिलव्याजेन
वियोगजां निःश्वासततिं त्यक्तवतीत्यर्थः ।

अत्र कुबेरादिशब्दानां संयोगार्थैः प्रकणादिभिश्च एकत्रार्थे नियमिते सति गुप्ता-
मित्यस्य गोपितां, दक्षिणा दिगित्यत्र दक्षिणेत्यस्य दक्षिण्यादिरूपोर्थः प्रकरणपर्यालोच-
नया व्यक्तस्य द्वितीयार्थस्य संबन्धे कल्प्यते, द्वितीयार्थश्च नायकनायिकासंवादरूपः
व्यञ्जनया गम्यते, अत्र चाभिधाश्रया व्यञ्जना ।

इस प्रकारसे संयोगादिकों द्वारा अर्थमें नियमित पद अर्थान्तरके बोधसे रोक दिया
जाता है । तब अन्यार्थ बोधनमें जो वृत्ति सहायक होती है वह अभिधामूला
व्यञ्जना है । जैसे—कुबेर—। यह कुमारसंभवमें आकस्मिक वसन्त का वर्णन है । जब
सूर्यभगवान् समयके पूर्व ही उत्तर दिशामें जानेको उद्यत हुए तब दक्षिण दिशाने
दुःखके निःश्वास के समान मलयानिलको छोड़ा ।

आच्छादिताऽऽयतदिगन्तरमुच्चकैर्गा-

माक्रम्य संस्थितमुद्ग्रविशालशृङ्गम् ।

मूर्ध्नि स्वलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-

मुद्गीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ? ॥ ६ ॥

[शिशुपालवधम्]

प्रथमे—दक्षिणाशब्दस्य प्रकरणवशात् तदभिधानदिग्रूपेऽर्थे
नियमिते, व्यञ्जनया दक्षिण्यशीलनायिकारूपोऽर्थः, द्वितीये च—

उदाहरणान्तरमाह—आच्छादितेनेति । आच्छादितं व्याप्तमायतं दीर्घं दिग-
न्तरं दिक्प्रान्तं येन तम् । गां पृथ्वीम् आक्रम्य अवष्टभ्य संस्थितं विद्यमानम् ।
उच्चकैः उन्नतं । उद्ग्राणि विशालानि शृङ्गाणि यस्य तम् उद्ग्रविशालशृङ्गम् ।
उन्नतायतशिखरं मूर्ध्नि शिरसि । स्वलन् यः तुहिनदीधितिस्तस्य कोटिर्यस्य तम्
स्वलत्तुहिनकोटिम् पतच्चन्द्रकिरणप्रभागम् । एनं सम्मुखस्थं, नगानामीशं
नगेशम् पर्वतराजम् । रैवतकं पर्वतमित्यर्थः । उद्गीक्ष्य विलोक्य भुवि भूमौ को
न विस्मयते सर्व एव विस्मयत इत्यर्थः ।

इति प्राकरणिकेनार्थेन नगेशं शिवमिति प्रतीयमानेन द्वितीयार्थेन गां नन्दीश्वरं
आक्रम्य स्थितमारूढं दिग्वाससं शृङ्गमित्यस्य विषणमत्याद्यर्थः अभिधायकशब्द-
महिम्ना प्रतीयते इति द्वितीयार्थप्रत्यायिका अभिधामूला व्यञ्जनैव ।

अमुमेवार्थं समासतः स्वयं प्रदर्शयति ग्रन्थकारः प्रथमे इत्यादिना । द्वितीय-
श्लोकस्यार्थं प्रदर्शयति द्वितीये चेत्यादिना ।

आच्छादित । यह माघकवि कृत रैवतक पर्वतका वर्णन है । दीर्घ दिशाओंके भागको
ढंक लेनेसे ऊँची, पृथ्वीपर बैठने, उन्नत बड़े शिखर शिर पर चन्द्रकिरणके
धारणसे इस रैवतकको देखकर कौन नहीं विस्मित हो जाता ।

यहां पर प्रथम श्लोकके दक्षिणादिपदोंसे प्रकरणादिवश अपने अपने अर्थमें
शक्तिके नियमन हो जानेसे पुनः व्यञ्जना शक्तिद्वारा नायक-नायिकाका वर्णन भी
प्रतीत होता है । जैसे—कोई नायक समयके पूर्व ही जब अन्यत्र विदेशादिक जानेको
प्रवृत्त हुआ उस समय दक्षिणादक्षिण्यवती नायिकाने वियोगज दुःखसे दुखी
होकर मुखसे निःश्वास छोड़ा ।

द्वितीय पद्यमें नगेश पदका प्रकरणादिना पर्वतराज अर्थमें नियमित होनेपर व्य-

नगेशशब्दस्य प्रकरणेन रैवतकर्षतरूपेऽर्थे नियमिते, व्यञ्जनया शिवरूपोऽर्थो बोध्यते ।

लक्षणामूलां व्यञ्जनामाह विश्वनाथः—

‘लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यया प्रत्याय्यते सा स्यात् व्यञ्जना लक्षणाऽऽश्रया’ ॥ १० ॥

उपास्यते—आश्रीयते, विधीयते इति यावत् । प्रत्याय्यते—बोध्यते । यथा—‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र प्रवाहविशेषरूपार्थबोधनादभिधायां, तटरूपार्थबोधनालक्षणायाश्च विरतायां यया शीतत्वपावनत्वातिशयरूपं प्रयोजनं बोध्यते, सा लक्षणामूला व्यञ्जना ।

लक्षणामूलां व्यञ्जनां लक्षयितुमाह—लक्षणेति । यस्यार्थस्य कृते लाभाय लक्षणा लक्षणाख्या वृत्तिः उपास्यते स्वीक्रियते तत् तु व्यञ्जनावृत्तेः प्रयोजनम् यया वृत्त्या प्रत्याय्यते सोऽर्थः प्रतीतिविषयो भवति सा वृत्तिः लक्षणाश्रया लक्षणामूला व्यञ्जना नाम इति कारिकार्थः ।

कारिकां विवृणोति—उपास्यत इति । उदाहरति—यथेति । गङ्गायां घोष इति वाक्ये गङ्गापदस्य प्रवाहरूपोर्थोऽभिधया बोध्यते प्रवाहे च घोषाधारताऽनुपपन्ना इति कृत्वा गङ्गापदस्य तटरूपोऽर्थः लक्षणया बोध्यते । एवं च वाच्यार्थं लक्ष्यार्थं च बोधयित्वा विरतायामभिधालक्षणारूपायां वृत्तौ लक्षणाप्रयोजनभूतां शीतत्वपावनत्वातिशयप्रतीतिं व्यञ्जनाख्या वृत्तिः जनयतीति वृत्त्यर्थः ।

अना वृत्तिसे द्वितीय शिवरूप अर्थ भी व्यङ्ग्य हुआ । जैसे—दिग्वसन, ऊँचे और बड़े बड़े सींगवाले बैल पर सवार, शिर पर चन्द्रखण्ड धारण किए नगेश, शिवको देखकर कौन नहीं विस्मित होता । यह द्वितीयाथ भी प्रतीत होता है ।

लक्षणामूलक व्यञ्जना कहते हैं ।

जिस अर्थकी प्रतीतिके लिए लक्षणा मानी जाती है वही प्रयोजन, तथा जिस वृत्तिके द्वारा प्रतीति होती है वह लक्षणामूला व्यञ्जना कही गई है ।

उपासना, आश्रयण और विधान एक पर्यायवाची शब्द हैं । प्रत्यायनका अर्थ बोधन है । ‘जैसे—‘गङ्गायां घोषः’ इस वाक्यमें गङ्गा पदका अर्थ अभिधावृत्ति द्वारा प्रवाह जाना गया । तदनन्तर गंगामें घोषाधारताको अनुपपन्न समझकर तटरूप अर्थका बोधन कराकर लक्षणा भी शान्त हो गई । अब शीतत्वपावनत्व प्रतीति रूप प्रयोजन जिस वृत्तिके द्वारा जाना जाय वही लक्षणाश्रया व्यञ्जना है ।

आर्थी व्यञ्जनामाह—

‘वक्तृबोद्धव्यवाक्यानां काकोश्वेष्टाऽऽदिकस्य च ।

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसम्भवा’ ॥ ११ ॥

[विश्वनाथः]

सा अर्थसम्भवा—आर्थी, व्यञ्जनेति शेषः । यं पुरुषं बोधयितुं शब्द उच्चार्यते स बोद्धव्यः । काकुः—ध्वनेर्विकारः । वैशिष्ट्यात्—विशेषयोगात् ।

यथा—‘गतोऽस्तमर्कः’ इति वाक्येन आस्तिके द्विजातौ वक्तुरि प्रतिपाद्ये वा ‘सन्ध्यावन्दनस्यायमवसरः’ इति; गोपाल-

शाब्दीलक्षणायाः भेदावुक्त्वा आर्थी विभजते—वक्तृबोधव्येति—सा व्यञ्जना अर्थसम्भवा आर्थी य। वक्ता प्रतिपादयिता बोद्धव्यः श्रोता वाक्यं प्रतिपिपादयिषितोर्यः एषां वक्तृबोधव्यवाक्यानां काकोर्ध्वनिविकारस्य । चेष्टा करचालनादिव्यापारः । तदादिकस्य आदिना वाच्यप्रस्तावदेशादीनां ग्रहणम् । च समुच्चये । वैशिष्ट्यात्, वैलक्षण्यज्ञानात् अयम् अपरम् अर्थं बोधयेत्, अन्यार्थविषयकं ज्ञानं जनयेत् सा व्यञ्जना आर्थीति कारिकार्थः ।

स्वयमेव विवृणोति—सेति । उदाहरति यथेति । गतोस्तमर्क इति वाक्यो उच्चारितेसति वाच्योर्थस्तु एक एव बोद्धादिभेदात् ; क्वचित् ‘कान्ताभिसरणवेला, गावो निरुध्यन्ताम्, नायकस्यागमनावसरः, सन्तापोऽधुना नास्ति, सन्ध्यावन्दनसमय इत्यादिरूपेणानेकार्थप्रतीतिः वक्तृवैशिष्ट्यात् बोधव्यवैशिष्ट्याद्वेति । एकस्मिन् वाक्ये वक्तृ-

शाब्दी व्यञ्जना कह कर अब आर्थी व्यञ्जना कहते हैं ।

वक्ता, श्रोता, वाक्य, काकु, चेष्टा तथा आदि पदसे वाच्य, प्रस्ताव, देश, कालकी विशेषतासे जो अन्यार्थकी प्रतीति होती है; वह आर्थी व्यञ्जना है ।

जिस पुरुषको समझानेके लिए शब्दका उच्चारण किया जाय वह बोद्धव्य है (अर्थात् श्रोता) काकु—एक ध्वनिविकार है । जैसे—‘दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः’ इस वाक्यमें दुःशासनकी छातीका रक्त न पिऊंगा ? अपितु पिऊंगा । यहाँ पर न शब्दकी ध्वनिके द्वारा ही विपरीत अर्थका बोध हो जाता है । वैशिष्ट्यात् = विशेषके योगसे । जैसे—‘गतोऽस्तमर्कः’ इस वाक्यमें वक्ता तथा बोधव्यकी विशेषतासे अनेक अर्थ भी प्रतीत हो सकता है । यदि यह वाक्य किसी अस्तिक द्वारा

बालके वक्त्रि प्रतिपाद्ये वा 'संहियन्तां गावो गृहं प्रतिनिवर्त्तामहे'
इत्यादिका अर्था वक्त्रादिवैशिष्ट्यात् प्रतीयन्ते । यथा वा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां

वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।

विराटस्याऽऽवासे स्थितमनुचिताऽऽरम्भनिभृतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ? ॥ ७ ॥

[वेणीसं०]

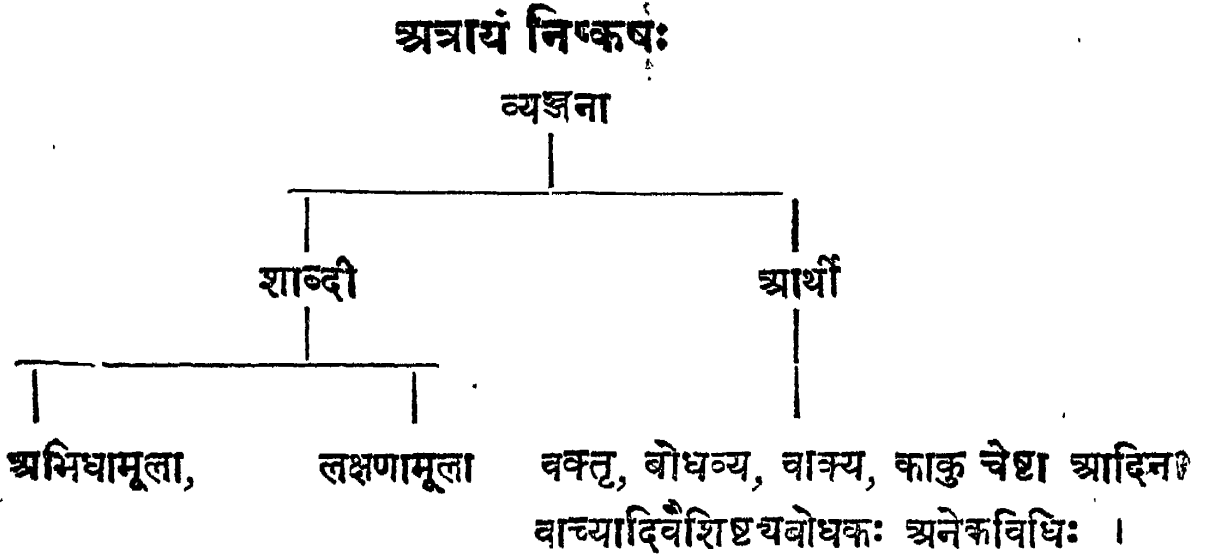
बोधव्यवाक्यानां वैशिष्ट्यमुक्त्वा काकुमुदाहरति—यथावेति । तथाभूतामिति ।
वेणीसंहारनाटके युधिष्ठिरोपालम्भघोतिका भीमसेनोक्तिरियम् । नृपसदसि राजसभा-
यां । तथाभूतामाकृष्यमाणकेशाम्बरामृतमतीमेकवस्त्रां च पाञ्चालतनयां द्रौपदीं
दृष्ट्वा अवलोक्य, तथा, वने श्रप्ये वल्कलधरैः वल्कलधारिभिः, नतु मृदुवस्त्रधा-
रिभिः, व्याधैः वधिकैः नतु शिक्षितैः सार्द्धं सह सुचिरम् उषितम् कृतनिवासम् ।
विराटस्य विराटनान्नो राज्ञः आवासे गृहे अनुचितो मदयोग्यो यः आरम्भः
उपक्रमः पाचकत्वादित्तेन निभृतं सुगुप्तं यथा स्यात्तथा स्थितं कृतावस्थानम् दृष्ट्वा
खिन्ने सति गुरुः श्रेष्ठः युधिष्ठिर इति यावत् । मयि भीमे खेदं कष्टं भजति आश्रयति
अद्यापि एवं भूतेऽपि कुरुषु कौरवेषु दुर्योधनादिषु न भजतीति सम्बन्धः । कुरुन्
दृष्ट्वा खेदो युक्तः न तु मयि खेदो युक्तः इति काका व्यज्यत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ।

प्रयुक्त है तो 'सन्ध्यावन्दनका' अवसर है' यह अर्थ प्रतीत होता है । यदि गोपाल वक्ता
है तो 'गौ को एकत्रिक करो, घर चलनेका समय आ गया' इस अर्थका बोध होता है ।
यदि किसी कामुकके द्वारा प्रयुक्त है तो 'अभिसरणवेला' का बोध होता है। इसी प्रकार
वक्ताआदिकी विशेषतासे अर्थमें विशेषता आती है । और भी—जैसे

तथाभूतामिति । भीमने सहदेवके मुखसे सुना कि पांच गांव यदि मिल गए
तो सन्धि हो जायगी यह निर्णय युधिष्ठिरजीने किया है । यह सुनकर उत्तर
दिया कि जाकर युधिष्ठिरसे कह दो कि मैं सन्धिसे सहमत नहीं हूँ अतः अब
तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता । उत्तरमें सहदेवने कहा कि ऐसा बोलोगे तो महाराज
दुःखी होंगे इसी पर भीमने यह श्लोक कहा है—राजसभामें रजस्वला द्रौपदीकी वह
दशा देखकर, वनेचरोंके साथमें वल्कल धारणकर, जंगलमें वासकर, विराटके घर उस
प्रकारसे अनुचित कार्यकरने पर भी, महाराज युधिष्ठिर खेद करेंगे तो हम सर्वोपर
करेंगे उनपर नहीं ।

अत्र 'मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु तु योग्यः' इति काका प्रकाश्यते ।

इति शब्दार्थनिरूपणं नाम द्वितीयशिखा ।



सम्प्रति स्वरूपं प्रदर्शयते

| नामानि | उदाहरणानि |
|------------------------------|----------------------------|
| १ अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना | कुबेरगुप्तमित्यादि |
| २ लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना | गंगायां घोषः |
| आर्थी | |
| ३ वक्तृवाक्यवैशिष्ट्ये | गतोस्तमर्कः |
| ४ बोधव्यवैशिष्ट्ये | |
| ५ काकोवैशिष्ट्ये | तथाभूतामित्यादि |
| ६ चेष्टावैशिष्ट्ये | एतावन्मात्रस्तनिका इत्यादि |

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचितायां काव्यदी-
पिकायाः मयूखटीकायां द्वितीया शिखा समाप्ता

यहां पर 'मुझपर क्रोध करना ठीक नहीं है किन्तु कौरवोंपर क्रोध करना चाहिए । यह काकु (कण्ठध्वनि) से अर्थ प्रतीत होता है । अतः अर्थानुसंधानसे व्यङ्ग्यार्थ बोध होनेके कारण यह आर्थी व्यञ्जना कही गई ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचित
किरण नामकी हिन्दी टीकामें द्वितीय शिखा समाप्त ।

तृतीयशिखा

ध्वन्यादिभेदेन काव्यस्य भेदत्रयमाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चित्रमिति त्रिधा ।

ध्वनिं लक्षयति विश्वनाथः—

‘वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्’ ॥१॥

यस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यार्थो वाच्यार्थादधिकचमत्कारी, तन्नाम ध्वनिः, तच्च उत्तमं काव्यम् ।

ध्वनिभेदौ—

‘भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाऽभिधामूलौ ।

अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च’ ॥ २ ॥

[विश्वनाथः]

काव्यलक्षणं तत्र विशेषणीभूतं पदवाक्यादिलक्षणं भेदौश्च यथाक्रमम् निरूप्य काव्य-
भेदानाह—काव्यमिति । ध्वनिः गुणीभूतव्यङ्ग्यं चित्रमिति भेदः काव्यं त्रिधा त्रिविधम् ।

अत्र वाक्ये प्रथमोपस्थितत्वात् ध्वनिं प्रथमं लक्षयति—वाच्येति । वाच्यात्
अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यात् अर्थात्, व्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यवृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे अयिशयिनि अधि-
कचमत्कारजनके सति ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यमिति कारिकार्थः ।

ध्वन्यते व्यज्यतेऽस्मिन् वाच्यार्थसमुदाय इति ध्वनिः । अस्मिन्निति सप्तम्यर्थो
वृत्तित्वम् तस्य ध्वन्यते इत्यस्य व्यङ्ग्यवृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थः तस्यैकदेशे व्यङ्ग्यवृत्तिप्रतिपाद्यः ।
तथा च यद्वृत्तिव्यङ्ग्यवृत्तिप्रतिपाद्यविषयः रसादिरिति बोधः ।

अमुमेवार्थं विवृणोति—वाच्यार्थादिति । काव्यात्मभूतस्य ध्वनेः भेदेनैव ध्वनि-
काव्यस्य भेदः सिद्धयति इति ध्वनिभेदावाह—भेदाविति । लक्षणामूलो ध्वनिः अभि-

ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्रके भेदसे काव्यके तीन भेद कहते हैं ।

काव्य ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र भेदसे तीन प्रकारका होता है ।

ध्वनिका लक्षण विश्वनाथ कहते हैं—

वह ध्वनि नामक उत्तम काव्य है जहां वाच्यकी अपेक्षा अधिक चमत्कारी व्यङ्ग्य हो ।

जिस काव्यमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थकी अपेक्षा अधिक चमत्कारी हो वह ध्वनि है,

यह उत्तम काव्य होता है ।

ध्वनिके भेदोंको कहते हैं ।

लक्षणामूलक और व्यङ्ग्यनामूलक, अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य

लक्षणामूलाऽभिधामूलौ (अविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यौ) ।

लक्षणामूलः अभिधामूलश्चेति ध्वनेर्द्वौ भेदौ । तौ च क्रमेण अविवक्षितवाच्यः, विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति नामाभ्यामपि व्यपदिश्येते । तत्र अविवक्षितं—बाधितस्वरूपं, वाच्यं यत्र स अविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः, लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

स च द्विविधः—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च । यदाह विश्वनाथः—

‘अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति’ ॥ ३ ॥

धामूले ध्वनिरिति भेदाभ्यां द्वौ द्विसंख्याकौ ध्वनेः भेदौ उदीरितौ उक्तौ । एक अविवक्षितवाच्योऽपरः विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति कारिकार्थः ।

एतदेव विशदयति—लक्षणोति । क्रमेणोति । लक्षणामूलो ध्वनिः अविवक्षितवाच्यः । अभिधामूलो ध्वनिः विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेत्यर्थः । लक्षणामूलत्वादिति । यथा लक्षणास्थले गंगापदस्य प्रवाहरूपेऽर्थे वाक्यार्थबोधोऽसम्भवन् वाच्यार्थं परित्यज्य तटादिकं बोधयति तथैव लक्षणामूलत्वाद् ध्वनेरपि वाच्यार्थपरित्यागित्वमित्यर्थः ।

ननु अभिधामूलायाः ध्वनेः निरूपणं क्रमप्राप्तं परित्यज्य अत्र व्युत्क्रमेण पाठे निरूपणौ च किं कारणमिति चेत् शृणु; लक्षणामूलाध्वनेरल्पविषयत्वात्, सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं तस्याः निरूपणम् । तदनन्तरं बहुवक्तव्यत्वाद् अभिधामूलायाः ।

लक्षणामूलाध्वनेः भेदावाह—अर्थान्तरमिति । अविवक्षितवाच्योनामध्वनिः

भेदसे ध्वनिके दो भेद होते हैं ।

लक्षणामूल और अभिधामूल ध्वनिके दो भेद हैं—वे क्रमसे अविवक्षितवाच्य, तथा विवक्षितान्यपर वाच्य नामसे कहे जाते हैं । उनमें जहां पर अविवक्षित = बाधितस्वरूप वाच्य है वह अविवक्षितवाच्यध्वनि है । यह लक्षणामूलक ध्वनि है ।

लक्षणामूलक होनेसे ही इसमें वाच्य अविवक्षित है । जैसे गंगापदका वाच्य प्रवाह ‘गंगायां घोषः’ इस वाक्यमें अविवक्षित है । किंतु तट ही अभिमत है ।

अविवक्षितवाच्यके भेद कहते हैं ।

अविवक्षितवाच्यध्वनि दो प्रकारकी होती है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । जैसा कि विश्वनाथ कविराजने कहा है—

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भेदसे अविवक्षितवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमाह—

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपे अर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे सङ्क्रमितत्वा-
दर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम् । यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ ८ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति भेदाभ्यां द्वैविध्यं द्विप्रकारत्वं ऋच्छति गच्छतीत्यर्थः ।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यार्थमाह यत्रेति । उदाहरति यथेति त्वामस्मीति । विद्वत्समां गच्छन्तं प्रति कस्यचिदाप्तस्योक्तिरियम् । अस्मीत्यहमर्थे अव्ययम् । यतः इत्यध्याहार्यम् । यतः अत्र विदुषां असाधारणज्ञानवतां समवायः एकतामापन्नः समुदायः तिष्ठति तत् तस्मात् कारणात् आत्मीयं स्वकीयां मतिं बुद्धिं आस्थाय अवलम्ब्य अत्र अस्मिन्नस्थाने स्थितिं सावधानस्थितिं विधेहि कुरु इति उपदेशाहं त्वां वच्मि उपदिशामीत्यर्थः ।

अत्र श्लोके वचनक्रिययैव वचनार्थप्रतीतेः वच्मीतिपदं अनुपयुक्तार्थम् । अतः वच्मीत्यस्य उपदिशामीत्यर्थः । तत्रैव वाच्यार्थः संक्रमितः । सम्बोधयतया एव युस्मदर्थस्य वचनकर्मतावगतेः त्वामस्मीति पदे अनुपयुक्तार्थे । वच्मीत्युत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य मत्कर्तृत्वप्रत्ययात् । अतः त्वामस्मीति पदाभ्यां त्वामुपदिशामि अहमस्मीति तस्मिन् पात्रत्वं स्वस्मिन्नाप्तत्वं च दर्शयति । इति तत्र तत्रार्थे वाच्यौ संक्रमितौ । इति मुख्यार्थपरित्यागपुरस्सरमन्यार्थसंक्रमणमर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो नाम ध्वनिः ।

दो भेद होते हैं । यद्यपि श्लोकमें एक ही वाच्य पद है तथापि वह प्रासादवासिन्यायसे दोनोमें अन्वित होता है ।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यका निरूपण करते हैं ।

जहां पर मुख्यार्थ अपने अर्थमें उपयुक्त न होकर अपने विशेष अर्थमें परिणत हो जाता है । वहां पर मुख्यार्थके अपने विशेष अर्थमें संक्रान्त (परिणत) होनेके कारण अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य कहा जाता है । जैसे—त्वामस्मीति ।

कोई हितैषी किसीके प्रति उपदेश करता है । मैं हूँ और तुमसे कहता हूँ कि विद्वानोंका समूह यहां पर एकत्रित हैं । इसलिए अपनी बुद्धि ठीक करके यहां पर स्थित रहो । अर्थात् विद्वत् समाजमें अप्रयोजक वाक्य मत बोलो ।

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति, सम्बोधे आत्मीय भावाऽऽद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमाह—

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरं बोधयति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वाद् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् । यथा—
‘उपकृतं बहु तत्र’ इत्यादौ पूर्वमुक्ते । अत्राऽऽद्ये—मुख्यार्थस्यार्थान्तरे सङ्क्रमणं—प्रवेशः, न तु तिरोभावः । अत एवात्र अजहत्स्वार्था लक्षणा । द्वितीये—स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत्स्वार्था ।

विवक्षितान्यपरवाच्यमाह—

‘विवक्षितञ्चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः’ ॥ ४ ॥ [मम्मटः]

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्याख्यां ध्वनिं लक्षयति—यत्र पुनरिति । उदाहरति—
उपकृतमिति । अत्र उपकृतादयः शब्दाः स्वार्थमत्यन्तं परित्यज्य अपकारादिरूपे-
ऽर्थे परिणता इति अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वात् अत्र तत्ता । अत एवेति । अत्र अर्था-
न्तरसंक्रमितवाच्ये द्वितीये अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यर्थः । अविवक्षितवाच्या-
ख्यभेदमुक्त्वा विवक्षितान्यपरवाच्यं विभजते । विवक्षितेति । कारिकां चिन्वतीति

यहाँ पर वचिम पदार्थ जो वचनादि है वह उपदेशरूप अर्थमें परिणत हो जाता है ।
‘अहमस्मि त्वां वचिम’ इस वाक्यमें संबोधनीयके प्रति अपना अत्यन्त आत्मीयभाव व्यङ्ग्य है ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य जैसे—

जहाँ शब्द अपने मुख्यार्थको सर्वथा परित्याग करके अर्थान्तरका बोध कराता है । वहाँ मुख्यार्थके अत्यन्त तिरस्कृत हो जानेके कारण वह अत्यन्ततिरस्कृत-
वाच्य कहलाता है । जैसे—‘उपकृतं बहु तत्र’ यहाँ पर उपकृतादिशब्द अपकारादिरूप अर्थमें परिणत हो जाता है ।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमें मुख्यार्थका अपने सम्बन्धी अर्थविशेषमें प्रवेश हो जाता है । अपना स्वरूप नष्ट नहीं करता । अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमें स्वार्थका परित्याग करके ही पद अपना बोध कराता है अतएव पहला अजहत्स्वार्था और दूसरा जहत्स्वार्थाके नामसे प्रसिद्ध हुआ । यही दोनोंमें भेद है ।

विवक्षितान्यपरवाच्यके लक्षण कहते हैं ।

दूसरा भेद है जहाँ पर वच्यविवक्षित हो (स्वरूपका प्रकाशक हो) तथा व्यङ्ग्य परक हो वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है ।

यत्र वाच्यं विवक्षितं—प्रकाशितस्वरूपं सत्, अन्यपरं—
व्यङ्ग्यनिष्ठं, सोऽपरः—विवक्षितान्तपरवाच्यो ध्वनिः । अत्र हि
वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः । यथा—
प्रदीपो घटस्य ।

तद्विभागः—

स च द्विविधः—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्च ।
यदाह स एव—

‘कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः’ ॥ ५ ॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः—

न संलक्ष्यः—सम्यगनुभूयमानः, क्रमः—प्रतीतिक्रमो यस्य
तादृशं व्यङ्ग्यं यस्मिन् सः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । स च रसभावादिः ।

यत्रेति । कोपीति । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदाभ्यां द्विविधः । अत्रेति
विभावादिः विभावानुभावव्यभिचारादेः प्रतीतिकारणकत्वात्, व्यङ्ग्यप्रतीतौ क्रमः
अवश्यमेवास्तीति भावः । स च रसभावादिः । रसभावतदाभासभावशान्त्यादि-

जहां वाच्य स्वरूप प्रकाशित करता हुआ व्यङ्ग्यपरक हो वह विवक्षितान्यपर
वाच्यध्वनि है । इसमें वाच्यार्थ अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ व्यङ्ग्यार्थका
प्रकाशक भी है । जैसे—दीपक घटका अर्थात् जैसे दीपक घटको प्रकाशित करता है किन्तु
अपने अर्थको नहीं छोड़ता वैसे शब्द भी अपने स्वार्थ बोधनके साथ साथ व्यङ्ग्यार्थका
भी बोध कराता है ।

विवक्षितान्यपरवाच्यके भेद कहते हैं—

यह दो प्रकारका होता है एक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ।
जैसा कि विश्वनाथने कहा है ।

द्वितीय = विवक्षितान्यपरवाच्य भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके
भेदसे दो प्रकारका है ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका स्वरूप कहते हैं—

नहीं संलक्ष्य—अच्छी तरह अनुभूयमान है क्रम—प्रतीतिक्रम जिसका वह असं-
लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहा जाता है । वह व्यङ्ग्य जैसे रसभावादि—आदि पदसे रसभाव,
रसाभास, भावशान्ति, भावशबलता भी अनुभाव और व्यभिचारीभावकी प्रतीति
ही कारण है क्योंकि भरतमुनिने कहा है कि ‘विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात्

अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेविभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्त्येव,
किन्तु उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवज्जाघवाच्च संलक्ष्यते ।

अथ रसनिरूपणम्—

अथ कोऽयं नाम रसः? के च विभावादयः? इत्याहुर्मम्मटभट्टपादाः—
'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रक्रमः । भिन्नोरसाद्यलंकारादलंकार्यतयास्थितः । इत्यादयः । आदिपदेन गृह्यन्ते ।
उत्पलपत्रेति । कमलपत्रशतव्यतिभेदवत् लाघवात् लघुत्वात् न लक्ष्यते न
ज्ञायत इत्यर्थः ।

ननु पूर्वत्र कारिकायां रसपदस्यानुक्तत्वात् कोयं रस इति शंकोत्थितिः कथ-
मिति चेन्न, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो हि रसभावादिः । तत्ररसपदस्य कोर्थ इति जिज्ञा-
सायां कोयं रसः इति प्रश्नस्योत्थानात् । अत आह कोयं रस इति ।

ननु के च ते विभावादय इत्यस्याः शंकायाः कथमुत्थितिरिति चेत्, शृणु ?
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये क्रमो अस्ति स च विभावादिः । किन्तु आशुभावित्वान्न लक्ष्यते ।
अत्र यः क्रमः स विभावादिजन्यः इति निर्णयति 'विभावादयः के' इति शंकायाः उत्था-
नात् आह के च विभावादय इति । मम्मटभट्टोक्तं रसस्वरूपं विवक्षुराह
मम्मटभट्टपादा इति ।

मम्मटोक्तां रसस्वरूपाभिधायिकां कारिकामाह कारणानीति ।

अथेति समुच्चयार्थे । लोके स्थायिनः स्थायीभावभूतस्य हासशोकादेः
रत्यादेः रतिः प्रीतिः, चित्तवृत्तिविशेषः । आदिना वक्ष्यमाण हासशोकादेः
ग्रहणम् इत्यर्थः । यानि कारणानि प्रमदेन्दूदयादीनि उत्पादकोद्दीपक रूपाणिकार्याणि

रसनिष्पत्तिः? अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावके संयोगसे रस स्वाद-
पदवीको प्राप्त करता । अतः विभावादि क्रमोंके रहनेसे क्रम अवश्य मानना पड़ता
है किन्तु शतपत्रकमलके भेदनकी तरह अनुभवमें नहीं आता । अत एव असंलक्ष्यक्रम
व्यङ्ग्य नाम हुआ ।

अब रस निरूपण करते हैं ।

पहले असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको रसभावादिरूप कहा गया । अतः रस पदका क्या
अर्थ है यह प्रश्न उठता है "कोऽयं रस इति"

यह रस क्या वस्तु है । और विभावादिक क्या वस्तु हैं इस प्रश्नके उत्तरमें
श्रीमम्मटभट्टजीने कहा है ।

लोकमें रति (प्रेम) की उत्पत्तिमें जो कारण, कार्य सहकारी, सहायक कारण

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥

विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥'

रत्यादेरित्यादिपदेन हासोत्साहादयो गृह्यन्ते । लौकिके उत्साहादीनां वक्ष्यमाणानां स्थायिभावानां यानि कारणानि—उत्पादकरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि, उद्दीपनरूपाणि—नायकप्रतिनायकचेष्टाऽदीनि,

स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥

वाङ्मनोबुद्धिशरीरारम्भरूपाणि च कटाक्षभुजक्षेपादीनि । सहकारीणि उत्कण्ठादीनि । तानि कारणादीनि चेत्, यदि काव्ये सर्गबन्धमहाकाव्यखण्डकाव्यादौ नाट्ये नाटकप्रहसनादौ च निवद्ध्येरन् । क्रमेण विभावाः विभावयन्ति रसास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्ति इति विभावाः । वासनारूपतया स्थितान् रत्यादीन् विभावयन्तीत्यर्थः । तानि अनुभावयन्ति अनुभवपदवीमारोपयन्ति इत्यनुभावाः । पोषकत्वेन विशेषेण काव्ये स्थायिनं अमितः चारयन्ति, विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति वा व्यभिचारिणः कथ्यन्ते । तैः विभावादिभिः व्यक्तः व्यक्तिश्च वर्णोति पर्यायः । चवर्णाविशिष्ट= एव स्थायोभावः=रसः स्मृतः उक्तः । विभावादिर्वैशिष्ट्ये चवर्णाविषय इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं स्फुटयति रत्यादेरिति ।

अत्रायं निष्कर्षः । स्थायिनां विभावादिभिः समं व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकभावरूपात् सम्बन्धात् विभावादीनां वा परस्परं संयोगात् मिलनाद्रसनिष्पत्तिरभिव्यक्तिरिति । विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति भरतसूत्रस्यार्थः । तथाहि लोके आलम्बनकारणैः प्रमदादिभिः, उद्दीपनकारणैश्चन्द्रिकादिभिः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, सहकारिभिश्चिन्ता-

होते हैं । यदि वे ही नाट्य और काव्यमें आजाय तो क्रमसे विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव बन जाते हैं । इस प्रकारसे उन विभावादिकों द्वारा अभिव्यक्त वह स्थायी भाव रति ही रस कही जाती है ।

'रत्यादिः' इसमें आदि पदसे वक्ष्यमाण हासक्रोधादिक भी गृहीत होते हैं । लोकमें होने वाले उत्साहादि रूप वक्ष्यमाण स्थायीभावोंके जो कारण हैं । वे विभाव कहे जाते हैं । विभाव दो प्रकारके हैं एक उत्पादकरूप और दूसरे उद्दीपकरूप । नायक नायिकादि उत्पादक हैं । और इन्दूदय, नायक नायिकाकी चेष्टायें उद्दीपक हैं । एवं जो कार्य

यानि कार्याणि—विपत्ताभिमुखगमनादीनि, यानि च सहकारीणि—
सहायभूतानि धृतिगर्वादीनि, तानि नाट्ये, काव्ये च चेन्नियेभ्येरन्,
क्रमेण विभावाः, अनुभावाः, व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते । तैर्विभावा-
दिभिव्यक्तः—स्फुटीकृतः, विलक्षणप्रतीतिविषयीकृत इति यावत्,
स्थायी भावः रसः कथितः ।

दिभिः, स्थायिनः रत्यादेरनुमिति विषये परिशीलनबलेन भटिति सामाजिकानां वासनारूप-
तयाऽन्तः स्थितः, काव्ये नाट्ये च गुणालंकारयोगेन कायिकवाचिकसात्विकाहार्यरूपेणा-
भिनयेन च तैरेव कारणत्वादिव्यपदेशपरित्यागेन विभावनानुभावनक्षरणरूपव्यापार-
वसया अलौकिकविभावानुभावसंचारिपदव्यवहार्यैः, ममैवैते, शत्रौरेवैते, उदासीनस्यै-
वैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारनियमस्य, न ममैवैते, न शत्रौरेवैते, न तटस्थस्यैवैते
इति सम्बन्धविशेषपरिहारनियमस्य चाज्ञानात् शकुन्तलात्वादिविशेष्यांशमपहाय
कामिनीत्वादिरूपेण प्रतीते अभिव्यक्तो रत्यादिः स्थायी तत्तदात्मनिष्ठोऽपि विभागादि
साधारणीकरणबलात् रसानुभवकाले अप्रतीतव्यक्तिविशेषसम्बन्धतया प्रादुर्भूतेतरशान-
शून्यापरिमितभावेन रसात्वादयित्रा प्रमात्रा सकलसहृदयसम्वादकारिणा प्रमातृवि-
शेषसम्बन्धाग्रहुरूपेण साधारण्येन स्वीकार इवाभिन्नोऽपि प्रत्यक्षीकृतः चर्चणाविषयतैक-
प्राणतया चर्चणानाशे विनष्टो रस इति प्रतीतिगोचरः, विभावादिकालमात्रस्थायित्वे
नानित्यचर्चणः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परिस्फुरत्, हृदयमिव प्रविशन्
सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वं तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचम-
त्कारकारी शृङ्गारादिको रसः । तत्रायं क्रमः—प्रथमं काव्यपदेभ्यस्तत्तत्पदार्थो-
पस्थितिः ततो यथोपस्थितविभागदिगोचरो वाक्यार्थबोधः, ततो गुणालंकाराभिन-
यादिः, ततो रत्यादिवासनावतः पुरुषस्य साधारण्येन विभावादिवोधः । तेन च
साधारण्येन प्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभागादिसम्बलितः स्थायी रत्यादिरूपो
रसः, इति ।

हैं पीछे लौट जाना, सन्मुख आना इत्यादि वे अनुभाव हैं । एवं सहकारी हैं सहायक
धैर्य, गर्व इत्यादि । वे ही काव्य एवं नाट्यमें समर्पित होकर व्यभिचारी कहे जाते
हैं । इन विभावादिकोंसे व्यक्त स्फुट किया गया विलक्षण = अलौकिक प्रतीतिका
विषय स्थायीभाव ही रस कहा जाता है ।

रसभेदाः—

तद्विशेषानाह—

शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ काव्ये रसाः स्मृताः ॥ [मम्मटः]

एषां क्रमेणोदाहरणानि ।

शृङ्गारस्य—

विवृण्वतो शैलसुताऽपि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।

साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ६ ॥ [कुमा०]

रसस्य सामान्यतः लक्षणमुक्त्वा तत्र भेदानाह—शृङ्गारेति । शृङ्गारः हास्यः, करुणः, रौद्रः, वीरः, भयानकः, वीभत्सस्तथा अद्भुत इति भेदेन काव्ये अष्टौ अष्ट संख्याकाः रसाः स्मृताः । इति कारिकार्थः ।

उदाहरणमाह शृङ्गारस्य—विवृण्वतीति । शैलस्य सुता शैलसुता हिलालय-तनया पार्वतीत्यर्थः । अपि स्फुरन्ः यः बालकदम्बस्तत्कल्पैः स्फुरद्बालकद-म्बकल्पैः विकसितबालकदम्बसदृशैः । सज्ञातरोमाञ्चैरित्यर्थः । अङ्कैः स्वावयवैः । भावम् स्वाभिप्रायम् । विवृण्वती प्रकाशयन्ती । सती । पर्यस्ते विलो-चने यस्मिन् तेन पर्यस्तविलोचनेन अवांनिक्षिप्तनयनेन । चारुतरेण मनोहरेण मुखेन वदनेन साचीकृता नम्रीकृता । तस्थौ स्थितवती ।

अत्र स्थायिभावभूता रतिः शिवलालम्बनविभावेन पार्वतीरोमाञ्चोदयेनानुभा-वेन, पर्यस्तविलोचनत्वप्रकाशितलज्जया व्यभिचारिभावेन परिपुष्टा सती सहृदयानां कृते आश्वादपदवीमागता शृङ्गाररसतामापद्यते । उपजातिः वृत्तम् ।

रसके भेद कहते हैं ।

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत नाम से रसके आठ भेद हैं ।

इनके क्रमसे उदाहरण दिये जाते हैं ।

शृङ्गार—

पार्वती भी विकसित होते हुए छोटे कदम्ब वृक्षके समान अंगोंसे भावको प्रकट करती हुई । दृष्टि नीचे कर सुन्दर मुखको तिरछा करके खड़ी ही रही । यहां स्थायी भाव रति है । शंकर आलम्बनविभाव, एवं रोमाञ्च अनुभाव, लज्जा व्यभिचारीभाव है । इन सर्वोंसे व्यक्त शृङ्गार रस है ।

हास्यस्य—

भिक्षो ! मांसनिषेधं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना ?

मद्यञ्चापि तव प्रियम् ? प्रियमहो ! वाराङ्गनाभिः सह ।

तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा,

चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ॥ १० ॥

हास्यरसमुदाहरति—भिक्षो इति । काश्चित् पारहास प्रियो भिक्षुं प्रत्येवमाह सच हासेनैवोत्तरयति । भिक्षो ! मांसस्य निषेधं मांसनिषेधं मांसभक्षणं प्रकुरुषे विदधासि । इति प्रश्ने उत्तरयति मद्यं विना सुरां विना तेन मांसनिषेधेन किं न किमपि इत्यर्थः । पुनः पृच्छति भोः मद्यं सुरा अपि तव तुभ्यं प्रियम् अभिमतम् । उत्तरयति अहो इत्याश्चर्ये प्रियमिति ब्रूषे । वाराङ्गनाभिः, वेश्याभिः सह सार्धं तत् मद्यं प्रियमित्यर्थः । अर्थात् वेश्याभिः सार्धं मद्यं रोचते । पृच्छति ॥ तासां वेश्यानां अर्थं रुचिः अर्थरुचि अर्थाभिलाषा भवति तव पार्श्वे धनं द्रव्यं कुतः कस्मादायाति । उत्तरयति द्यूतेन द्यूतक्रीडया, चौर्येण स्तेयव्यापारेण वा धनं प्राप्यते । पुनः पृच्छति भवतः चौर्यद्यूतयोः स्तेयद्यूतयोः परिग्रहः स्वीकारः अपि किं । स्तेयवृत्तिः चौर्यवृत्तिश्च स्वीकृता भवद्भिः । उत्तरयति नष्टस्य स्वधर्मच्युतस्य मनुष्यस्य अन्या चौर्यद्यूतादपरा का गतिः कः जीवनोपायः ।

अत्र भिक्षुः आम्लबनविभावः, मांसनिषेधनादिकमनुभावः । चाक्षर्यं व्यभिचारिभावः एतैः परिपुष्टः हासस्यायिभावः आस्वादपदवीं गतः हास्यरसत्वमापद्यते । वास्तविकालापे तु संन्यासिनं प्रति घृणैवोत्पद्येत न हास्यम् । किन्तु अत्र यः अयं परिहासेन पृच्छति अयं च तथैवोत्तरयति इति उक्तिप्रत्युक्त्वा जानाति ज्ञातुं शक्यते वा स एव हास्यवृत्तं अनुभवतीति भावः ।

हास्य—

प्रश्न—हे भिक्षुक ! मांस खाते हो ? उत्तर—मद्यं विना मांस व्यर्थ है (अर्थात् मद्यं मांस दोनों खाता हूँ) प्र०—क्या मद्यं भी तुम्हें प्रिय है । उत्तर—यदि सुन्दरी स्त्रीके साथ पीना पड़े तो अच्छा है । प्र०—वेश्यायें तो धन चाहती हैं तुम धन कहां पाओगे । उत्तर—चोरी या जुवासे धन प्राप्त हो जायेंगे । प्र०—क्या आप चोरी और जुवा भी खेलते हो । उत्तर—दुराचारियोंका और कार्य ही क्या है ।

हंसमुख व्यक्ति द्वारा हंसमुख साधूके प्रश्नोत्तर इस श्लोकमें व्यक्त है । यहां पर भिक्षु विभाव, मांस भक्षण अनुभाव, चौर्यादि चपलता व्यभिचारीभाव है । इनसे परिपुष्ट हास ही हास्यरसता को प्राप्त होता है ।

करुणस्य—

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।

मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत् ? ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च स्वादून्यन्नानि भुञ्जते ।

कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम् ? ॥११॥ [रामा०]

रौद्रस्य—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

कारुणरसस्य उदाहरणमाह अदृष्टेति । सर्वेषां भूतानां प्रियं वदतीति सर्वभू-
तप्रियंवदः सर्वप्राणिप्रियवक्ता । धर्मयुक्ता आत्मा यस्य स धर्मात्मा धर्मवान् । न
दृष्टं दुःखं येन स अदृष्टदुःखः अननुभूतदुःखः । दशरथात् तन्नामः अयोध्या-
धिपात्, मयि कौशल्यायां । जातः उत्पन्नः । कथं केनप्रकारेण उञ्छेन उञ्छवृत्त्या
(उञ्छः कणश आदानं कणशाद्यर्जनं शीलम्) वर्तयेत् व्यवहरेत् । यस्य मन्ना-
तस्य भृतिर्वेतनं भृत्याः वेतनभोगिनः दासाः द्रव्यदानेन क्रीताः । दासजातीयाः
शूद्रजातीयाः कर्मकराः वा स्वादूनि स्वादवन्ति अन्नानि भोज्यवस्तूनि भुञ्जते
अभ्यवहरति स मत्तनयः अयं रामः वने अरण्ये, मूलफलानि कन्दफलानि कथं
केन प्रकारेण भोक्ष्यते अभ्यवहरिष्यति । रामवनगमनं स्मरन्ती कौशल्याचिन्तयति
इति भावः । अत्र रामः आलम्बनविभावः । उञ्छवृत्तिः उद्दीपनविभावः । क्रन्द-
नमनुभावः । विषादादिकं व्यभिचारिणः । एतैः परिपुष्टः शोकः करुणरसत्वमागतः ।
पथ्या वृत्तमिदम् ।

रौद्ररसस्य उदाहरणमाह—कृतमिति । वेणीसंहार नाटके द्रोणवधानन्तरं

करुण—

रामचन्द्रके वनवाससे कौशल्याका करुण भाव इसमें अभिव्यक्त है । सब प्राणि-
योंके हितको कहनेवाला धर्मत्मा दुःखका अननुभवी दशरथ द्वारा मुझसे (कौशल्या
से) उत्पन्न (राम) उञ्छ वृत्तिसे कैसे समय वित्तायेगा ।

जिसके भृत्य और सेवक स्वादयुक्त अन्न खाते हैं । वह मेरा राम वनमें मूलफल
कैसे खायेगा ।

यहां विभाव रामचन्द्र, अनुभाव क्रन्दनादि, कौशल्यागत विषादादि व्यभिचारी-
भाव हैं । इनसे पोषित शोकरूप स्थायीभाव करुणरसता को प्राप्त करता है ।

रौद्रका उदाहरण जैसे—

द्रोणाचार्यकी मृत्युके बाद अश्वत्थामाकी गर्वोक्ति। जिन लोगोंने इस गुरुवध रूप

मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिर्हृदायुधैः ।

नरकरिपुणा साङ्ग तेषां समीमकिरीटिना-

मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥१२॥ [वेणी०]

वीरस्य—

जुद्राः ! सन्त्रासमेते विजहित हरयः ! क्षुण्णशक्रेभकुम्भा

अश्वथाम्नो वल्गनामिदम् । यैः उदायुधैः अन्नधारिभिः मनुजपशुभिः मनुजा एव पशवस्तैः पशुतुल्यमनुजैः । निर्मर्यादैः मर्यादामतिक्रान्तास्तैः अतिक्रान्तमर्यादैः । भवद्भिः पाण्डवपक्षीयैः इदं पुरोदश्यमानं, गुरोः पातकं गुरुपातकं गुरुवधरूपं पापं कृतं विहितं स्वयं वधो विहित इत्यर्थः । अनुमतं वधविषये अनुमतिर्वा दत्तः । दृष्टं वधदर्शने आदरो दत्तो वा । अयमयमहं अयं पुरोदश्यमानः अहं अश्वत्थामा । तेषां सर्वेषां । नरकस्य रिपुस्तेन नरकरिपुणा नरको नाम—पापात्मनां यातनास्थान-विशेषः । तस्य रिपुणा कृशेन सार्धं सह । भीमकिरीटिभ्यां सहिताः समीमकिरीटि-नस्तेषां समीमकिरीटिनां भीमार्जुनसहितानां । असृक् रक्तं च मेदा वसा च मांसं पल्लवं च असृङ्मेदोमांसानि तैः असृङ्मेदोमांसैः दिशां दिग्देवतानां बलि उपहारम् (बलिः पूजोपहारयोरित्यमरः) करोमि निर्वर्तयामि । तान् हन्मि इत्यर्थः । अत्रार्जुनोदायुधत्वौ आलम्बनोद्दीपनविभावौ, तर्जनमनुभावः । गर्वामर्षादयः व्यभिचारिणः । एतैः परिपुष्टः आस्वादपदवीं गतः सहृदयानां कोपः स्थायिभावः रौद्रो, रसः ।

वीरस्य रसस्य उदाहरणमाह—जुद्राः इति । हनुमन्नाटके क्रुद्धस्य मेघनादस्यो-क्तिरियम् । हे ! जुद्राः, नीचाः, हरयः वानराः, एते अमी यूयं, सन्त्रासं भयं विजहत त्यजत । क्षुण्णौ शक्रेभस्य कुम्भौ यैः तादृशा क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः चूर्णिते-

षापको किया है, अनुमति दिया या देखा है । यह मैं उन मनुष्य पशुओं, अष्टमर्या-दाओं और शस्त्र धारियोंको जिसमें भीम अर्जुन तथा कृष्ण भी हैं । उनकी रक्त मेदा और मांससे दिशाओंको बलि दे रहा हूँ ।

यहांपर आलम्बनविभाव अर्जुन, उद्दीपनविभाव पितृहनन, अनुभाव अभिसुख-गमनादि, गर्व व्यभिचारीभाव है । इनसे परिपुष्ट क्रोधरूपी स्थायीभावं आश्वाद्य-धीको प्राप्तकर रौद्ररसरूपताको प्राप्त करता है ।

वीररसका उदाहरण जैसे—

मेघनादकी अहंकार-पूर्ण-रामयुद्धामिलाषा और उसके लिए प्रयत्न इस श्लोकमें

युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

सौमित्रे ! तिष्ठ, पात्रं त्वमस्मि न हि रुषां, नन्वहं मेघनादः

किञ्चित् भ्रूमङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥१३॥ [हनुमन्ना०]

भयानकस्य—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाऽभावादपास्य त्रपा-

न्द्रगजैरावतकुम्भाः । अमा एते शायकाः बाणाः युष्मद्देहेषु भवत्शरीरेषु निष्प-
तन्तः परं केवलं लज्जां व्रीडां दधति धारयन्ति । सौमित्रे ! लक्ष्मण ! तिष्ठ
युद्धोद्यमाद्विरम । त्वं रुषां क्रोधानां पात्रं आश्रयः भाजनमित्यर्थः । न नहि अस्मि ।
ननु निश्चयेन, अहं पुरोदश्यमानः मेघनादः इन्द्रजित् अस्मि । यतः बालकस्त्वं
मया सह योद्धुमसमर्थोऽतः अहं त्वयि बाणमोक्षं न विधास्यामि । किन्तु किञ्चित्
ईषद्भ्रूमङ्गलीलया नियमितो जलधियेन तं किञ्चिद्भ्रूमङ्गलीलानियमितजलधि
ईषद्भ्रुविलासनियन्त्रितसागरं । रामं रामचन्द्रं अन्वेषयामि परिमार्गयामि ।
स्रग्धरो बृत्तम् ।

अत्र रामः आलम्बनविभावः, क्षुद्रेषूपेक्षादिकमनुभावः, समुद्रबन्धनं उद्दी-
पनविभावः, इन्द्रगजकुम्भदारणस्मृतिः व्यभिचारीभाव एतैः परिपुष्टः आस्वादपदवीं
गतः स्थायीभावः रससंज्ञां भजति ।

भयानकरसस्य उदाहरणमाह—नष्टमिति । रत्नावलीनाटिकायां विदूषको वस-
न्तकः वानरवेषं निधाय अन्तःपुरं प्राविशत् । तत्र भीतानां वामनकिरातादीनां
वर्णनमिदम् ।

वर्षवरैः षण्डैः, मनुष्येषु गणनायाः अभावः, तस्माद् मनुष्यगणनाभावात्,
नपुंसकत्वात् नपुमान् न च स्त्री इत्यर्थः । त्रपां लज्जां विहाय परित्यज्य नष्टं पला-

वर्णित है । 'ऐ' छोटे छोटे वानरो ! घबड़ाहट छोड़ दो । हमारे बाण जिन्होंने इन्द्रके
गजके कुम्भका विदारण किया है । वे तुम्हारे ऊपर चलनेमें बहुत लज्जित हो रहे हैं ।
हे सुमित्रापुत्र ! तुम शान्त रहो क्योंकि तुम क्रोधके पात्र नहीं हो । मैं मेघनाद हूँ ।
जिसके भ्रुविलाससे सागरका नियमन हो गया है मैं उस रामको खोज रहा हूँ ।

यहां राम आलम्बनविभाव, सेतुबन्धन उद्दीपन विभाव है । बल हीनोंपर प्रहार न
करना अनुभाव, इन्द्रगजविदारणादिस्मृति व्यभिचारीभाव है । इनसे पुष्ट उत्साह
वीर रस रूपताको प्राप्त होता है ।

भयानकरसका उदाहरण जैसे—

वर्षवर (नपुंसक) मनुष्योंकी गणनामें, न आनेके कारण लज्जा छोड़कर भाग गए ।

मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासाद्यं वामनः ।
पर्यन्ताऽऽश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मैक्षणाऽऽशङ्किनः ॥ १४ ॥

[रत्नावली]

वीभत्सस्य—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथुच्छोथभूयांसि मांसा-

यितम् । अयं वामनः खर्वः त्रासाद् भयात्, कञ्चुकेः कञ्चुकं तस्य कञ्चुकि-
कञ्चुकस्य कञ्चुकिवारवाणस्य, 'कञ्चुको वारवाणः स्यात्, इत्यमरः । अन्तः मध्ये
विशति प्रविशति । किरातैः अन्तःपुरवर्तिशबरैः । नीचानां शबराणामपि राज्ञां
गृहे परिवारकत्वेन दर्शनात्, अयमर्थो नासंगतः (एतेन किरातशब्दस्यात्र न शबरोऽ-
र्थः इत्यपास्तम्) पर्यन्तं आश्रयन्ति पर्यान्ताश्रयिणस्तैः पर्यान्ताश्रयिभिः गृहनिवा-
सिभिः । सद्भिः निजस्य स्वस्य नाम्नः सदृशं समानं कृतं विहितम् । किरं-
प्रान्तदेशं अतति इति किरातः यथा नाम तथैव प्रान्तदेशपलायनं विहितं । तेन यथार्थ-
नामानो याताः । कुब्जाः आत्मैक्षणाशङ्किनः स्वदर्शनाशङ्किनः । शनकैः मन्दं
मन्दं नीचतयैव अति सङ्कोचने यान्ति गच्छन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र वानरागमनमालम्बनविभावः, वानरचेष्टा उद्दीपनविभावः, धावनादिकमनु-
भावः । त्रासादिकं व्यभिचारीभावः । एतैः परिपुष्टा भीतिः आत्वादपदवीं गता
भयानकरसत्वमापद्यते ।

वीभत्सरसस्य उदाहरणमाह—उत्कृत्योत्कृत्येति । मातृतीमाधवाख्ये नाटके
माधवः प्रेतारङ्गमत्रलोक्य ब्रूते । प्रथमं पूर्वं, कृत्तिं त्वचम्, उत्कृत्योत्कृत्य उत्पाद्यो-

वामन भयके मारे कञ्चुकीके कञ्चुकके (शेरवानी के) भीतर घुस गया । पार्श्ववर्ती
किरातोंने अपने नामके सदृश ही किया । (अर्थात् किरं प्रान्तदेशको अतति जाता
है इति किरातः प्रान्तप्रदेशमें भगने वाला । यह किरात शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।
अतः जैसे किरात शब्दका अर्थ हुआ वैसाही कार्यभी किया) कुबड़ेभी कहीं मैं न देख
लिया जाऊँ इसी भयसे और नत होकर भाग गए ।

वानरके वेशमें अन्तः पुरमें प्रविष्ट विदूषकको देखकर भीर्तोंका कर्माहलेख है ।

यहांपर वानर विभाव, भागना अनुभाव, त्रासादि व्यभिचारीभाव हैं । इनसे
परिपुष्ट भीतिरूप स्थायीभाव ही भयानकरस रूपताको प्राप्त होता है ।

वीभत्स रसका उदाहरण जैसे—

दरिद्रप्रेतकी प्रवृत्तिका वर्णन है ।

एक दरिद्रप्रेत पहले चमड़ेको उधेड़ उधेड़कर अत्यन्त फूल जानेसे स्थूल

न्यंसस्फिकपृष्ठपिण्डाऽऽद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-

दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमःयग्रमत्ति ॥ १५ ॥

[मालतीमाधवम्]

अद्भुतस्य—

मानुषोभयः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।

त्पाटथ अथ अनन्तरं, पृथुर्यः उच्छ्रोथः तेन भूयांसि पृथूच्छ्रोथभूयांसि अधिकशोथ
बहुलानि, अंशौ, स्कन्धौ, स्फिक्, ऊरुमूलं पृष्ठपिण्डो जङ्घोर्ध्वभागः एवमवयवेषु
सुलभानि प्राप्याणि इति अंशस्फिकपृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभानि । उग्रपूतीनि
उत्कटदुर्गन्धानि मांसानि मांसपिण्डानि जग्ध्वा भक्षयित्वा, आर्तः क्षुत्पीडितः,
परितः आसमन्तात् अस्ते क्षिप्ते नेत्रे येन स पर्यस्तनेत्रः सर्वतः निक्षिप्तदृष्टिः, प्रक-
टितं दशनं येन सः प्रकटितदशनः प्रकाशितदन्तः । प्रेतेषुरङ्कः प्रेतरङ्कः दरिद्र-
प्रेतः । अङ्कस्थात्, क्रोडेस्थापितात् करङ्कात् नरकङ्कालात्, अस्थिषु संस्था अवस्थि-
तिः यस्य तं अस्थिसंस्थं अस्थिसंबद्धं स्थपुटगतं निम्नोन्नतप्रदेशस्थितं क्रव्यं
मांसं अभ्यग्रं यथास्यात्तथा त्रिःशंकं अति भक्षयति इत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् ।

अत्र प्रेतरङ्कः आलम्बनविभावः, मांसभक्षणं उद्दीपनविभावः । ग्लानिः सञ्चारि-
भावः, जुगुप्सा स्थायीभावः, नाशासङ्कोचनादिकमनुभावः । एतैः परिपुष्टो जुगुप्सा-
प्रकृतिकः सामाजिके वीभत्सो रसो व्यज्यते ।

अद्भुतरसस्य उदाहरणमाह—मनुषोभयः इति । व्याख्यातोऽयं श्लोकः काव्य-

कन्धा नितम्ब पीठ आदि स्थानों तथा अवयवोंमें सुलभ और उत्कट गन्धवाले
मांसको खाकर दुःखी चारों ओर आंख फेकता हुआ दाँत निकालकर गोदमें रखे हुए
पञ्जरकी सन्धियोंसे मांस निकालकर आनन्द पूर्वक खा रहा है ।

यहांपर प्रेतरङ्क आलम्बनविभाव, मांसभक्षण उद्दीपनविभाव, ग्लानि व्यभिचारी-
भाव, नाक भौंहसिकोड़ना अनुभाव है । इनसे परिपुष्ट जुगुप्सा स्थायीभाव आस्वाद
पदवीको प्राप्त वीभत्स रस बनता है ।

अद्भुतरसका उदाहरण जैसे—

शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्तका विचार । इतना सुन्दर रूप मनुष्य स्त्रियोंसे
कैसे उत्पन्न हो सकता है । कहीं पृथ्वी तलसे कान्तिसे चमकती हुई ज्योति उत्पन्न
हुई है ।

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुभातलात् ॥ १६ ॥ [अभि० शा०]

एषां क्रमेण स्थायिभावानाह मम्मटः—

‘रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥’

लक्षणनिरूपणावसरे । अत्र शकुन्तला आलम्बनविभावः, रूपादय उद्दीपनविभावः, द्रष्टुः आश्चर्यादिकमनुभावः । धैर्यं व्यभिचारिभावः, विस्मयः स्थायीभावः । अभिज्ञे सामाजिके विस्मयप्रकृतिकोऽद्भुतो रसो व्यज्यते । एवं विभावादयः भावादिस्वपि भाव्याः

अथ क्रमेण रसभेदान् तदुदाहरणांश्च सम्यगुक्त्वा अष्टानां रसानां स्थायिभावाः के इत्यपेक्षायां रसभेदकथनक्रमेण तानाह—रतिरिति । रतिः = प्रेमार्दं मनः । हासः चेतोविकासः हासः । शोकः—चित्तवैकल्यं शोकः । क्रोधः प्रतिकूलेषु तैक्षण्य प्रबोधः क्रोधः । उत्साहः कार्यारम्भेषु स्थेयान् संरम्भः (आवेशः), भयं प्रतीकारासमर्थताप्रयोजकः चित्तवैकल्यसम्पादकं भयम् । परदोषाविष्करणं जुगुप्सा । अद्भुतवस्तुदर्शनजन्यः चित्तविस्तारः विस्मयः ।

स्थायिभावस्य भेदाः दर्शिताः । स्थायीभावस्य स्वरूपलक्षणमाह प्रदीपे तदेवात्र लिख्यते ।

अरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।

आनन्दाङ्कुरकन्दोसौ भावः स्थायिपदास्पदम् ॥

विरुद्धाः अरुद्धा वा यं भावं तिरोधातुं अन्तर्हितं कर्तुं अक्षमा असमर्थाः । असौ आनन्दाङ्कुरकन्दः भावः स्थायिपदस्य आस्पदं आश्रयं भवति । अर्थात् विरुद्धैः अवि-
रुद्धैर्वा भावैतिस्कृतप्रवाहो भावः स्थायीभाव इत्यर्थः ।

यहांपर शकुन्तला आलम्बनविभाव, सौन्दर्यउद्दीपन विभाव, देखना अनुभाव, औत्सुक्य व्यभिचारी भाव हैं । इनसे परिपुष्ट विस्मय स्थायीभाव अद्भुत रस बन जाता है ।

रसभेद कहनेके बाद उनके स्थायीभाव क्रमसे कहते हैं ।

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय ये क्रमसे शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसके स्थायीभाव कहे गए हैं ।

व्यभिचारिभावान् कथयति स एव—

निर्वेदग्लानिशङ्काऽऽख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।

आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिधृतिः ॥

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।

क्रमप्राप्तान् व्यभिचारिभावान् कथयति । निर्वेदेति । निर्वेदः तत्त्वज्ञानादिना
आपदि वा स्वावमानना । यथा—

‘किं करोमि क्व गच्छामि कमुपैमि दुरात्मजा । दुर्भरेणोदरेणाहं प्राणैरपि विमुञ्चितः ॥

अत्र आपदि स्वावमानना दर्शिता ।

ग्लानिः । रत्यायासादिजन्या निष्प्राणता । शङ्का परक्रोर्पात्मदोषाद्यैः अनर्थस्य
चिन्तनम् । यथा—

आनीतैव मया सीता किं नानीतं पुरद्विषः ।

स चेदायाति लङ्कायां न जाने किं भवेत्तदा ॥

पुरद्विषः=पुरु अधिकं यथास्यात्तथा द्वेष्टि तस्य पुरद्विषो रामस्येत्यर्थः । सीताहरण
रूपदोषैः रामपराक्रमं स्मृत्वा स्वानर्थचिन्तनम् रावणस्य ।

असूया अन्यगुणासहिष्णुता । मदः मदपानादिजन्यः चेतोविकारः । रत्यादि-
जनितः खेदः श्रमः । आलस्यं श्रमजनितपुरुषार्थशून्यता । यथा—

चलति कथञ्चित् पृष्टा वांच यच्छति कथञ्चिदालीनाम् ।

आशितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ॥

अत्र गर्भभारजनितगमनादिरूपपुरुषार्थशून्यता आलस्यम् ।

दैन्यं दुर्गतिजन्यौजोराहित्यं । चिन्ता प्रयत्नपूर्वकान्वेष्यस्मृतिः । मोहः
अतर्कितोपनतदुःखसुखजन्याविचित्ता । स्मृतिः पूर्वानुभूतपदार्थस्मरणम् ।
धृतिः विपत्तावपिस्थिरचित्ता । व्रीडा दुराचारादिजनितचित्तसंकोचः । चप-
लता । परोत्कर्षजन्यदुःखाद् अविमृष्यकारिता । हर्षः मनःप्रसादः । आवेगः

व्यभिचारीभावोको कहते हैं ।

निर्वेद = दुःख, ग्लानि = खेद, शंका = अनिष्टचिन्तन, असूया = दूसरेके गुणको न
सहनकर सकना । मद = चेतो विकार, श्रम = रतिजन्य खेद, आलस्य = पुरुषार्थशून्यता,
दैन्य = दीनता, चिन्ता = प्रयत्न पूर्वक वस्तु स्मरण, मोह = दुःखसे विचित्र होजाना
स्मृति = पदार्थस्मरण, धृति = धैर्य, व्रीडा = लज्जा, चपलता = चाञ्चल्य, हर्ष = प्रसन्नता,
आवेग = प्रसन्नता या दुःखसे उत्पन्न चित्त सम्भ्रम । जडता = अचेतनता । गर्व = अहं-

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥
 सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चावहित्यमथोग्रता ।
 मतिव्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
 त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
 त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥'

नवमः शान्तरसः—

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ॥'

[मम्मटः]

यथा—अहो वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा

अमर्शजनितचित्तसंभ्रमः जडता सुखदुःखादिना अप्रतिपत्तिः जडता । गर्वः स्वस्मिन् श्रेष्ठत्वमदः । विषादः कार्यासिद्धिजन्योः दुःखम् । औत्सुक्यं प्रियसमागमत्वर । निद्रा इन्द्रियाणां व्यापारवैमुख्यं । अपस्मारः मनक्षेपः । सुप्तं निद्रागतस्य विषयानुभवः । प्रबोधः चेतनागमः । जागरणमित्यर्थः । अमर्षः स्थिरः क्रोधः । अवहित्या लज्जाद्यैः हर्षाद्याकारगोपनम् । उग्रता चण्डत्वम् । मतिः शास्त्रादिभिःनेर्यानिर्धारणं मतिः । व्याधिः विरहजन्यमनस्तापः । उन्मादः चित्तविभ्रमः । मरणम् जीवस्योद्गमनारम्भः । त्रासः भयम् । वितर्कः संदेहे ऊहः । अमी नामत उक्ता त्रयस्त्रिंशत् संख्याक्ताः भावाः व्यभिचारिणः ।

रसस्य अष्टौ भेदाः पुरातनोक्ताः प्रदर्शय शान्ताख्यस्य नवमरसस्यापि स्वरूपमाह निर्वेदति । निर्वेदाख्यस्थायिभावो नवमः शान्तोऽपि रसोऽस्ति वर्तते । न त्वाधुनिकः ।

उदाहरति—अहाविति । अहिः सर्पः तस्मिन् अद्भौ, हारे मुक्ताहारे वा कुसु-

कार, विषाद = दुःख, औत्सुक्य = मिलनेकी उकताहट, निन्द्रा = इन्द्रियोंका व्यापारवैमुख्य । अपस्मार = मनक्षेप, सुप्तं = स्वप्न, प्रबोध = जागरण, अमर्ष = स्थिर क्रोध, अवहित्या = लज्जाके द्वारा हर्षका छिपाना, उग्रता = क्रोधका वेग । मति = सोचकर कार्य करना । व्याधि = मनस्ताप । उन्माद = पागलपन, मरण = प्राणवियोग, त्राण = भय, वितर्क और संदेह यह तैतीस संख्याके व्यभिचारीभाव कहे गए हैं ।

मम्मटभट्टसम्मत नवम रसको कहते हैं ।

यदि निर्वेद (जो व्यभिचारी भावोंमें गिना गया है ।) स्थायीभाव मान लिया जाय तो शान्त नामका नवम रसभी समझना चाहिए ।

शान्त रसका उदाहरण जैसे—

सर्प या हारमें, पुष्पशय्या या पत्थरपर, मणि या मिट्टीके टुकड़ोंमें बलवान पत्थर

मणौ वा लोष्ट्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।

तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः

क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव ! शिव ! शिवेति प्रलपतः ॥ १७ ॥

वत्सलरसः—

[वैरा० शत०]

‘केचिच्चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः ॥’

[विश्वनाथः]

यथा—यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।

मस्य पुष्पस्य शयनं तस्मिन् पुष्पशयने । दृषाद् पाषाणे वा मणौ रत्ने लोष्ठे
मृत्पिण्डे वा बलवति समर्थे रिपौ शत्रौ वा सुहृदि मित्रे वा । तृणे काष्ठे, स्त्रैणे
स्त्री समूहे वा समा दृष्टिः यस्य तस्य समदृष्टेः मम दिवसाः ० दिनानि क्वचित्
पुण्यारण्ये पुण्यवने शिव ! शिव ! शिव ! इति इत्थं प्रलपतः जपतः यान्तु
गच्छन्तु । शिखरिणी छन्दः ।

अत्र मित्थ्यात्वेन परिभाव्यमानं जगत् आलम्बनम् । तपोवनायुद्दीपनम् । अहि-
हारयोः समदर्शनमनुभावः । मतिधृतिहर्षाः व्यभिचारिणः । निर्वेदः स्थायिभावः । तज्ज्ञे
शान्तरसनिष्पत्तिः ।

केषाचिदभिमतं वत्सलं रसमाह केचिच्चेति । केचित्, चमत्कारितया वत्सलञ्च
रसं विदुः । इति कारिकार्थः ।

उदाहरति—यदाहेति । यत् यस्माद्धेतो=स रघुः अभर्कः बालः । धात्र्या
उपमात्रा प्रथमोदितं पूर्वोच्चारितं वचः वचनम् । आह उवाच, तदीयां तत्स-
बन्धिनी अङ्गुलिम्, कराग्रं अवलम्ब्य धृत्वा ययौ जगाम, प्रणिपातस्य शिक्षा तथा

या मित्रमे, वृण या स्त्रीसमूहमे समदृष्टि रखते हुए किसी पुण्यारण्यमे शिव, शिव शिव
कहते हुए हमारे दिन बीते । सर्पादिक विभाव, पुण्याश्रम उद्दीपनविभाव, तुच्छ
दर्शन अनुभाव, रोमाञ्चादि व्यभिचारीभाव हैं । इनसे परिपुष्ट निर्वेद रूप स्थायीभाव
शान्तरस रूपता को प्राप्त करता है ।

विश्वनाथ सम्मत वत्सलरस भी कहते हैं ।

कोई लोग चमत्कारी होनेसे वत्सल रसभी मानते हैं । उदाहरण—जैसे—

जो धाईसे कहे गए शब्दोंका उच्चारण किया और उसकी उँगली पकड़कर
चलता रहा, उसके द्वारा दीगई प्रणामादि शिक्षासे नम्र बनाया गया अत एव वह रघु-
पिता दिलीपके लिए प्रसन्नता बढ़ा रहा था ।

अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया

पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ १८ ॥ [रघु०]

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमाह—

‘यत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेस्तु क्रमः सम्यग्विभाव्यते ।

स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥’

यथा पूर्वोदाहृते ‘कुबेरगुप्ताम्’ (पृ० १८) इत्यादिश्लोके दक्षिणा-
शब्देन दक्षिण्यशीलनायिकारूपं वस्तु व्यज्यते ! अयञ्च शब्दशक्त्यु-
द्भवो वस्तुध्वनिः ।

प्रणिपातशिक्षया प्रणामादिशिक्षया नम्रः विनीतश्चः अभूत् बभूव । तेन नम्रादि-
हेतुना पितुः दिलीपस्य मुदं हर्षन्ततान विस्तारयामास । वंशस्थं वृत्तम् ।

अत्र रघुः आलम्बनम् । तस्य चेष्टायाः उद्दीपनम् । चुम्बनादयः अनुभावाः ।
अनिष्टशंकागर्वहर्षादयः व्यभिचारिणः एतैः परिपुष्टः स्नेहाख्यः स्थाविभावः वल्स-
लो रसः ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदानुक्त्वा, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदानाह यत्रेति । यत्र
व्यङ्ग्यप्रतीतेः = व्यङ्ग्यप्रतीतौ क्रमः सम्यक् स्फुटतया विभाव्यते ज्ञायते । स
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । तद्भेदा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदाः बहवः अनेके स्मृताः उक्तः ।
आकरे इति शेषः । इति कारिकार्थः ।

उक्तार्थं लक्ष्ये गमयति यथेति । दक्षिणा शब्देनेति । दक्षिणा शब्दः दक्षि-
ण्यं चातुर्यं तद्गणयुक्ता नायिकारूपं वस्तु व्यनक्ति । अयं च शब्दशक्त्युद्भवो
वस्तुध्वनिः ।

यहाँपर रघु आलम्बन विभाव, उसकी चेष्टा उद्दीपनविभाव है । चुम्बन अनु-
भाव, गर्वादि व्यभिचारीभाव हैं । इनसे परिपुष्ट स्नेह नामका स्थायीभाव वल्सलरस
रूपताको प्राप्त करता है ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके भेदोंको कहकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको कहते हैं ।

जहाँ व्यङ्ग्यप्रतीतिका क्रम ज्ञात होता हो वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाता
है । उसके अनेकभेद कहे गए हैं ।

जैसे पूर्वोदाहृत “कुबेर गुप्ता” इस श्लोकमें । दक्षिणा शब्दसे दक्षिण्य (शील)ना-
यिका वस्तु व्यङ्ग्य हुई । यहाँ शब्दशक्त्युद्भवध्वनि है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यमाह—

‘अनुत्तमे गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु वाच्यतः ।’

व्यङ्ग्ये—व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यतः—वाच्यार्थात्, अनुत्तमे—अधिक-
चमत्कारिणि सति, गुणीभूतव्यङ्ग्यम्; तच्च मध्यमं काव्यं कथ्यते ।
यथा—

अन्नाऽऽसीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्नाऽऽहृतः ।

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं लम्भितः

केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राजसपतेः कृत्वा च कण्ठाटवी ॥ १६ ॥

[बालरामायणं नाटकम् ।]

ध्वनिकाव्यभेदमुक्त्वा गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदमाह—अनुत्तमे इति । कारिकार्थ-
माह व्यङ्ग्ये इति । उदाहरति अत्रेति । हे ! मृगाक्षि ! हरिणलोचने ! सीते !
इत्यर्थः । अत्र अस्मिन् स्थाने, फणिपाशेन नागपाशेन बन्धनं तस्य विधिः, फणिपा-
सबन्धनविधिः । आसीत् अभूत् । शक्त्या आयुधविशेषेण भवद्देवरे त्वद्देवरे
लक्ष्मणे इत्यर्थः । वक्षसि वक्षस्थले, उरसीत्यर्थः । गाढं दृढं ताडिते आहते सति
हनुमता पवनतयेन द्रोणाद्रिः द्रोणाचलपर्वतः । आहृतः आनीतः । अत्र अस्मिन्
स्थाने इन्द्रजित् मेघनादः दिव्यैः दिवि भावाः दिव्यास्तादृशैः, लोकोत्तरैः । लक्ष्म-
णस्य शरास्तैः लक्ष्मणशरैः लक्ष्मणमुक्तमार्गणैः । लोकान्तरं स्वर्गलोकं । ल-
म्भितः प्रापितः । अत्र अस्मिन् स्थाने केनापि एकेन पुरुषेण राक्षसानां पतिः
तस्य राजसपतेः रावणस्य कण्ठानां अटवी कण्ठाटवी शिरोधरासमूह इत्यर्थः ।
कृत्वा ल्लिभेत्यर्थः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं ।

वाच्यसे व्यङ्ग्य जहां अधिकचमत्कारी नहीं होता उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं ।
व्यङ्ग्ये = व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यतः वाच्यार्थापेक्षया, अनुत्तमे = अधिक चमत्कारी न
हो तो गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका काव्य होता है । वह मध्यम काव्य है । उदाहरण-जैसे-
पुष्पकविमानसे अयोध्याप्रस्थित भगवान् रामचन्द्र जी सीताको युद्धस्थल दिखा
रहे हैं । हे सीता यहांपर नागपाशसे सब बान्धे गए थे । यहांपर तुम्हारे देवर
लक्ष्मणको शक्ति द्वारा वक्षस्थलमें मारने पर हनुमान द्वारा द्रोणाचल पर्वत लाया
गया था । यहांपर दिव्यास्त्रोंसे लक्ष्मण द्वारा मेघनादका बध हुआ है । हे हरिणनयने ।
राक्षस राज रावणके कण्ठसमूहको यहांपर किसीने काट डाला है ।

अत्र अनुनायकोपनायकप्रतिनायकेषु निर्दिष्टेषु चतुर्थपादे नायको राम एवार्थशक्त्या प्रतीयते, स च केनापीत्युपादानेन वाच्यायमानतयाऽगूढः कृत इति व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वमपनीतम् ।

चित्रकाव्यमाह—

‘व्यङ्ग्यार्थहीनं काव्यं यत् तत्तु चित्रमिति स्मृतम् ॥’

चित्रमिति—गुणालङ्कारयुक्तम्, व्यङ्ग्यार्थहीनम्—स्फुटप्रतीयमानव्यङ्ग्यार्थरहितम् ; तच्च अधमं काव्यमुच्यते ।

तस्य भेदावाह

‘शब्दचित्रं वाच्यचित्रं द्विविधं तत्प्रकीर्तितम् ।’

अत्र अनुनायकादीनां कार्यनिर्देशेन अन्ते स्वमुखेन स्वस्यवर्णनमनुचितमिति कृत्वा केनापीति । उक्तं तेनैव अर्थशक्त्या रामरूपार्थः प्रतीतो व्यङ्ग्यार्थः । स च केनापि इति शब्देनैव वाच्यायमान इति गुणीभूतव्यङ्ग्यमत्र काव्यं । रामेणात्र कथने न तादृशचमत्कार इति वाच्ये एव चमत्कारातिशयः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ।

एतदेवार्थं प्रतिपादयति अत्रेत्यादिना ।

श्रवसरंप्राप्तं काव्यस्य तृतीयं चित्राख्यं भेदं लक्षयन्नाह—व्यङ्ग्यार्थेति । यत् काव्यं व्यङ्ग्यार्थहीनं तच्चित्रं स्मृतमित्यन्वयः । चित्रकाव्यभेदावाह शब्दचित्रमिति । तस् चित्राख्यं काव्यं शब्दचित्रं, वाच्यचित्रं इति द्विविधं प्रकीर्तितम् कथितम् । अथ

यहांपर अनुनायक = हनुमान्, उपनायक = लक्ष्मण, प्रतिनायक रावणादिके निर्देश कर देनेपर चतुर्थ पादमें ‘केनापि’ पदसे नायक रामही अर्थशक्तिसे प्रतीत होते हैं । वह ‘केनापि’ पदके कहनेसे वाच्यकी तरह प्रतीत होता रहा । अतः वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थापेक्षणा अधिक चमत्कारी रहा । और व्यङ्ग्यार्थकी चमत्कारिताको दूर कर दिया ।

चित्र नामक काव्यके तृतीय भेदको कहते हैं ।

जो काव्य व्यङ्ग्यार्थसे हीनहो वह चित्र काव्य कहा जाता है चित्र—गुण और अलंकारसे युक्त व्यङ्ग्यार्थ हीन = व्यङ्ग्यार्थ हीन काव्य, अधम काव्य कहा जाता है ।

चित्र काव्यके भेदोंको कहते हैं ।

शब्दचित्र और वाच्यचित्रके भेदसे चित्रकाव्य दो प्रकारका होता है ।

यत्र वाच्यार्थात् शब्दस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं, तत् शब्दचित्रम् ।

यथा—

कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघृत्कारवत्कीचक-

स्तम्बाऽऽडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः ।

एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-

रुद्वेल्लन्ति पुराणचन्दनतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः ॥२०॥ [उ० च०]

यत्र शब्दात् वाच्यार्थस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं तद् वाच्यचित्रम् ।

शब्दचित्रकाव्यस्थलं निर्दिशति—यत्रेति । वाच्यार्थात् वाच्यार्थापेक्षया शब्दस्य यत्र पद्ये प्राधान्येन मुख्यतया चमत्कारित्वम् । तत् काव्यं शब्दचित्रं नाम । उदाहरति—कूजदिति । कूजन्तीनाम् अव्यक्तशब्दं कुर्वन्तीनाम् कुञ्जा एव कुटीराणि तत्र स्थितानां कौशिकानामुलूकानां वा घटा संहतिः तेषां यः घृत्कारः घू घू शब्दस्तद्वन्तो ये कीचकाः वंशविशेषाः । वैणवः कीचकास्ते स्युः ये स्वनन्त्यनिलोद्धतः, इत्यमरः । तेषां स्तम्बस्य संघस्य य आडम्बरः औद्धत्यं तत्र मूकं निःशब्दं मौकुलीनां वायसानां कुलं यत्र तादृशः । अयं सम्मुखस्थः । क्रौञ्चावतः, क्रौञ्चवा-
न्नामकः । गिरिः पर्वतः । स्वार्थे अण् । अन्येभ्योऽपि दृश्यते इति मतुपि परतो दीर्घः । एतस्मिन् गिरौ । प्रचलतां भ्रमतां प्रचलाकिनां मयूराणां कूजितैः ध्वनिभिः उद्वेजिताः उद्वेगं प्रापिताः कुम्भीनसाः सर्पाः पुराणानि चन्दनरूपां स्कन्धानि तेषु पुराणचन्दनतरुस्कन्धेषु चिरन्तनमलयजवृक्षप्रकाण्डेषु उद्वेल्लन्ति भीताः इत-
स्ततः परिभ्रमन्ति । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

अत्र ककारानुप्रासप्राधान्यमिति शब्दचित्रमिदम् ।

जहांपर वाच्यार्थकी अपेक्षा शब्दकी ही अधिक चमत्कारिता हो, वह शब्द चित्र कहा जाता है । जैसे—

कुञ्जरूपी कुटियामें उल्लुओंके झुण्डके घूघू शब्दकी गूँजसे कीचक नामक बाँसके समुदायमें चुपचाप छिपे हुए काकसमूहसे व्याप्त यह क्रौञ्चवान नामका पर्वत है । इसमें चलते हुए मयूरोँके शब्दोंसे डरे हुए सर्प पुराने चन्दन-घृत्की डालियोंपर रेंग रहे हैं ।

इसमें ककारानुप्रास बहुत है, अतः सालंकार वाक्य होनेसे यह शब्दचित्र काव्य हुआ ।

जहांपर वाच्यार्थ ही प्रधानतया चमत्कारी हो, वह वाच्यचित्र कहा जाता है । चार

यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
 लोभाय पद्मलदशामलकाः खलाश्च ।
 नीचाः सदैव सविलासमलीकलया
 ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥ २१ ॥
 इति काव्यभेदप्रभेदो नाम तृतीयशिखा समाप्ता ।

वाच्यचित्रमुदाहरति । ते इति । ते वशीकरणसमर्थाः । पद्मले दशौ यासां तासां पद्मलदशां पद्मदशां रमणीनाम् अलकाः केशाः चूर्णकुन्तला इत्यर्थः । खला दुष्टाश्च दृष्टिमात्रे पतिता दृष्टिमात्रपतिता अपि अत्र लोके कस्य पुंसः लोभाय कष्टाय न ?, अपि तु सर्वेषां लोभायैव । कथंभूताः । नीचाः हस्वाः, पापाश्रयाश्च, सदैव सर्वकाले एव सविलासं विलाससहितम् अलोके ललाटे, मिथ्याभाषणे च, लग्नाः संबद्धाः ये अलकाः, खलाश्च कुटिलतामिव वक्रतामिव कालतां श्या-
 मतां, परपीडनजन्यरगुतां च न नहि त्यजन्ति मुञ्चन्ति । वसन्ततिलका छन्दः ।

अत्र दृष्टिमात्रपतिता दुःखदायका अलकाः खलाश्च तृतीय-चतुर्थ-पदेन समान-
 तया वर्णिताः । अतः शब्दाद् वाच्यार्थस्याधिकचमत्कारित्वात् वाच्यचित्रं नाम
 काव्यम् ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य-श्रीरामगोविन्दशुक्लरचितायां
 काव्यदीपिकायाः मयूखटीकायां तृतीया शिखा समाप्ता ।

स्त्रियोंके केश और दुष्टपुरुष आंखके सामने पड़ते ही किसे, लोभ नहीं देते ? क्योंकि केश और खल सर्वदा नीच हैं । डेढ़ाईसे या इच्छापूर्वक, मस्तकमें या झूठ बोलनेमें प्रवृत्त हैं जो कुटिलताके समान कालिमाको नहीं छोड़ते ।

यहांपर शब्दोंके जो अर्थ हैं, वे ही चमत्कारी हैं; इसलिए यह वाच्यचित्र कहा गया ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्लरचित
 किरण नामकी हिन्दी टीकामें तृतीय शिखा समाप्त ।

चतुर्थशिखा

अथ दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यविभागः—

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्रत्वेन । काव्यस्य भेदत्रयमुक्त्वा, पुन-
र्दृश्यश्रव्यत्वभेदेन भेदद्वयमाह—

‘दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।’ [विश्वनाथः]

दृश्यकाव्यलक्षणम्—

‘दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपाऽऽरोहात्तु रूपकम् ॥’ [विश्वनाथः]

अभिनेयम्—अभिनययोग्यम्, तच्च दृश्यं काव्यं, नटैः रामाऽऽ-
दिस्वरूपाऽऽरोपाद्रूपकमिति च कथ्यते ।

अभिनयस्य स्वरूपं भेदाच्च कथ्यन्ते—

‘भवेदभिनयोऽवस्थाऽनुकारः स चतुर्विधः ।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥’

उत्तमाधममध्यमत्वप्रयोजकान् काव्यभेदानुक्त्वा रचनावैचित्र्यबोधकं काव्यस्य
भेदद्वयमाह—दृश्येति । दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यं पुनः द्विधा मतम् । इति कारिकार्थः ।

तत्र दृश्यकाव्यस्य लक्षणमाह—दृश्यमिति । तत्र भेदद्वये अभिनेयं नाट्याद्य-
भिनीयमानं नायकादिचरितम् । तत् दृश्यं काव्यमित्यर्थः । रूपारोपात् स्वरूपारोप-
णाद् रूपकमिति यथा मुखादौ पद्मादेरारोपो रूपकं मतम् । तथैव नायकारोपो
नटे रूपकमुच्यते ।

अभिनयस्य स्वरूपं भेदांश्चोपस्थापयति—भवेदिति । अस्यार्थमाह—नटै-

अथ दृश्य एवं श्रव्य भेदसे काव्योंके दो भेद कहते हैं । इसी प्रकार ध्वनि-गुणी-
भूतव्यङ्ग्य-चित्रभेदसे काव्यके तीन भेद कहकर अब दृश्य-श्रव्य भेदसे काव्योंके
दो भेद कहते हैं ।

काव्य दृश्य और श्रव्य भेदसे दो प्रकारका होता है ।

दृश्यकाव्यका लक्षण—

अभिनेय काव्य दृश्य कहलाता है । यही रूपके आरोपणसे रूपक भी कहा जाता है ।

अभिनेयम्—अभिनयके योग्य । वही दृश्यकाव्य नटों द्वारा रामादिके स्वरूपके
आरोपके कारण रूपक भी कहा जाता है ।

अभिनयके स्वरूप और भेद कहते हैं ।

नायक आदिकी अवस्थाका अनुकरण करना अभिनय कहा जाता है । वह चार
प्रकारका होता है—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य ।

नटैरङ्गेन, वाचा, वस्त्रालङ्कारादिभिः, मानसभावैश्च रामयुधिष्ठिरा-
ऽऽदीनामवस्थाऽनुकरणमभिनयः ।

दृश्यकाव्यानि कानिचित् रूपकनाम्ना, अपराणि उपरूपकनाम्नः
कथ्यन्ते । तत्र रूपकाणि—नाटकप्रकरणप्रहसनप्रभृतीनि दशविधानि,
उपरूपकाणि च—नाटिकात्रोटकाऽऽदीनि अष्टादशभेदानि । विशेषं
विना सर्वेषामेव स्वरूपं नाटकलक्षणसमानम् ।

नाटकलक्षणमाह विश्वनाथः—

‘नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवत् युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥

रिति । रूपकेषु भेदद्वयबोधनाय उपक्रमते—दृश्यकाव्यानीत्यादिना । प्रहसनप्र-
भृतीनीति । प्रभृतिपदेन भाणव्यायोगसमवकारडिर्मईहामृगाङ्कवीथीनां ग्रहणम् ।
त्रोटकादीनीति । आदिना गोण्डी, सक, नाट्य, रासक, प्रस्थानोत्लाप्य, प्रेक्षण,
संलापक, श्रीगदित, शिल्पकं, विलासिका, दुर्मस्त्रिका, प्रकरणी, हस्तीश, भाण
भेदानां ग्रहणम् ।

रूपकभेदेषु प्रथमं नाटकस्य लक्षणमाह—नाटकमिति ।

नटोंसे अङ्ग, वाणी, और वस्त्र अलंकारादिकों तथा सात्त्विक भावोंसे राम
युधिष्ठिरादिकी अवस्थाका अनुकरण ही अभिनय कहलाता है ।

कुछ दृश्यकाव्य ‘रूपक’ नामसे तथा कुछ उपरूपक नामसे कहे जाते हैं । उसमें
नाटक, प्रहसन आदि दश प्रकारके रूपक होते हैं । उपरूपक तो नाटिका त्रोटकादि
अठारह प्रकारके होते हैं । विशेषताको छोड़कर नाटकोंका स्वरूप समान ही है ।

नाटकका लक्षण—

प्रसिद्ध कथानकवाला पञ्चसन्धिसे, विलासकी ऋद्धिसे तथा अनेक ऐश्वर्योंसे युक्त
नाटक कहा जाता है ।

सुख तथा दुःखके उद्भवसे युक्त, अनेक रसोंसे व्याप्त, पांचसे लेकर दश अङ्कोंसे
शोभित, प्रसिद्ध वंशका धीरोदात्त प्रतापी दिव्य या दिव्यादिव्य गुणवान् नायक

चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।

एक एव भवेदङ्गी प्रथमो वीर एव वा ॥

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम् ॥'

ख्यातं—रामायणमहाभारताऽऽदिप्रसिद्धं, रामयुधिष्ठिराऽऽदिचरि-
तम्, सन्धयः—वक्ष्यमाणाः, विलासाऽऽदयः—नायकगुणाः, तैर्युक्तम् ;
सुखदुःखसमुद्भवत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेषु अभिव्यक्तम् ; नाना-
विधैः रसैः निरन्तरम्—अविच्छिन्नम् ; राजर्षयः—दुष्यन्ताऽऽदयः ;
दिव्याः—श्रीकृष्णाऽऽदयः ; दिव्यादिव्यः—यो दिव्योऽप्यात्मनि नरा-
भिमानी । यथा—श्रीरामचन्द्रः । निर्वहणे—पञ्चमे सन्धौ ।

अङ्गलक्षणमाह—

‘प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।

धीरोदात्त इति । अस्य लक्षणमाह विश्वनाथः दर्पणे तद्यथा—

“अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।

स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥” इति ।

अस्यार्थः—अविकत्थनः अनात्मश्लाघाकरः, महासत्त्वः हर्षशोकादिभिरनभिभूत-
स्वभावः, निगूढमानः विनयच्छन्नगर्वः । दृढव्रतः अङ्गीकृतनिर्वाहकः, धीरोदात्तसंज्ञको
नायक इत्यर्थः । यथा रामयुधिष्ठिरादिः । शेषं सुगमम् ।

नाटके पञ्चत आरभ्य दशसंख्याका अङ्काः भवन्ति इति नाटकनिरूपणे उक्तम् । तत्र
अङ्गपदार्थविज्ञासायामाह—प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवद्भासमानं नेतुर्नायकस्य

चाला चार या पांच कार्यरत पात्रोंसे युक्त नाटक होता है । एक ही रस अङ्गी होता
है । वह चाहे वीर हो या शृङ्गार; अन्यरस उसके अङ्ग होते हैं । और उपसंहार
सन्धिमें कुछ अद्भुत कार्य निबद्ध होना चाहिए ।

ख्यातं—रामायण या महाभारतादिमें प्रसिद्ध हों जैसे रामचन्द्र या युधिष्ठिर ।
सन्धयः—आगे कही जानेवाली, विलासादायः—नायकके गुण विलास आदि हैं, उनसे
युक्त नायक ही उत्तम है । सुखदुःखसमुद्भवत्वं = राम, युधिष्ठिर आदिके वृत्तान्तसे
अभिव्यक्त अनेक प्रकारके रसोंसे व्याप्त हो, राजर्षिः—दुष्यन्तप्रभृति राजर्षियोंसे युक्त,
दिव्याः—कृष्णचन्द्रादिक, दिव्यादिव्य—जो दिव्य होता हुआ भी अपनेको मनुष्य ही
समझे । जैसे रामचन्द्र । निर्वहणे—पञ्चम सन्धिमें अद्भुत कार्य दिखाया गया हो ।

अङ्गका लक्षण—

जहां पर नेताका चरित प्रत्यक्ष हो । रसभावादिके प्रकाशित हो । अनेक प्रकारके

नानाविधानसंयुक्तो बीजसंहतिमान् न च ॥
 युक्तो न बहुभिः कार्यैर्नातिप्रचुरपद्यवान् ।
 आवश्यकानां कार्याणामविरोधात् विनिर्मितः ।
 नानेकदिननिर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजितः ।
 आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥
 वधयुद्धविवाहाद्यैर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
 देवीपरिजनाऽऽदीनां प्रत्यक्षचरितैर्युतः ॥
 अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥'

चरितं यत्र तादृशः । रसभावाभ्यां समुज्ज्वलः समुद्भासितः, रसभावसमुज्ज्वलः
 नानाविधानैरनेकविधव्यापारैः संयुक्तोऽलंकृतः नानाविधानसंयुक्तो बीजस्य संहतिमान्
 बीजसंहतिमान् कारणसंहतिमानित्यर्थः । न च स्यात् नचेति नह्यर्थे । अर्थात्
 कारणसंहतिमान् नहि स्यादिति भावः । बहुभिः बहुसंख्याकैः कार्यैः व्यापारैः
 युक्तः नियुक्तः न नहि स्यात् । नातिप्रचुरपद्यवान् अत्यधिकश्लोकरहितः ।
 आवश्यकानां अनन्यथासिद्धानां कार्याणां सन्ध्यावन्दनादीनां, अविरोधात्
 अव्याघातात्, विनिर्मितः विरचितः । अनेकैः दिनैः निर्वर्त्या या कथा तथा अनेक-
 दिननिर्वर्त्यकथया । न नहि सम्प्रयोजितः प्रयुक्तः । स्वल्पया कथया एकदिवसनि-
 वर्तनीयता भवेन्नाटकस्य यदि तदेव शोभनमिति भावः । आसन्नः नायको यस्य स, आ-
 सन्ननायकः समीपवर्तिनायकः । तथा तथा च त्रिचतुरैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पात्रैः
 युतः संयुतः वधयुद्धविवाहाद्यैर्वर्जितः रहितः । नातिविस्तरः अतिविस्ताररहितः
 देवीपरिजनादीनां सपरिवारस्य राज्ञः । प्रत्यक्षं चरितं यस्मिन् तैः प्रत्यक्षच-

क्रिया कलापसे युक्त हो । बीजके संहारसे युक्त न हो । (बीजका लक्षण-जो थोड़ा-सा
 कहनेपर अधिक बढ़ता है और फल लेकर ही समाप्त होता है । वह ही बीज कहला-
 ता है ।) अनेक कार्योंसे युक्त न हो । अधिक पद्य भी न हों । आवश्यक कार्य परस्पर
 में विरोध रहित बने हों । अनेक दिनोंमें समाप्त होने वाली कथासे न प्रयुक्त किया
 गया हो । पद पद पर नायक की चर्चा चलती हो । तीन या चार पात्रोंसे युक्त हो ।
 वध, युद्ध, विवाह आदिसे रहित हो । बहुत विस्तृत न हो । रानी या चेट्टी आदिके प्रत्यक्ष
 आचरणों द्वारा युक्त हो । अन्तमें सब पात्र निकल जाते हों, वह अङ्क कहा जाता है ।

भावाः—देवाऽऽदिविषयकरत्यादयः, बीजस्य संहतिः—सङ्कोचः ।

नाटकीयपूर्वकृत्यम्—

‘तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।

कथनं कविसंज्ञाऽऽदेर्नाटकस्याप्यथाऽऽमुखम् ॥’

तत्र—नाटके, सभापूजा—विनीतवचनाऽऽदिना सभ्यानाम् आभि-
मुख्यसम्पादनम्, आमुखम्—प्रस्तावना ।

पूर्वरङ्गस्य लक्षणमाह—

‘यन्नाटयवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।

कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥’

रितैः युतः संयुतः । अन्ते निष्क्रान्तानि निखिलानि पात्राणि यस्मिन् सोऽङ्कः । इति
इत्थं कीर्तितः कथितः । बीजलक्षणमाह भरतः—

स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति । फलावसानं यच्चैवं बीजं तदिह कीर्तितम् ॥

प्रारभ्यमाणनाटकस्य पूर्वकृत्यमाह—तत्रेति, पूर्वं प्रथमं पूर्वरङ्गः । ततः परम्
तदन्तरं सभापूजा, कवेः संज्ञादीनां कथनं नाटकस्यापीत्यपि नाटकसंज्ञाकथनमपि
बोध्यते । अथ अनन्तरं आमुखम् प्रस्तावना । शेषं वृत्तौ स्पष्टम् । नाटकीयपूर्व-
कृत्यानां गणनाप्रस्तावे पूर्वं पूर्वरङ्गस्य कीर्तनात् प्रथमं तल्लक्षणमाह—यदिति ।
नाटयवस्तुनः नाट्यारम्भात्, पूर्वं प्रथमं रङ्गस्य नाटयस्थलस्य विघ्नानां
प्रत्यवायानां शान्तये नाशाय यत् कर्म कुशीलवाः—नटाः प्रकुर्वन्ति पठन्ति स

भावाः—देवादि विषयक प्रेमको भाव कहते हैं । संहतिः—सङ्कोचको कहते हैं ।

नाटकीय व्यापारका पूर्वकृत्य इस प्रकार है । नाटकमें सर्वप्रथम पूर्वरङ्गका
निर्माण होता है । उसके बाद सभापूजा होती है । विनीत वचनोंद्वारा सभ्योंके चिन्त-
को अपनी ओर लगानेके लिए जो कुछ कहा जाता है, उसे सभापूजा कहते हैं । इसके
बाद कविका नाम, गोत्र वंशपरम्परा, गुरुपरम्परा आदिका कथन किया जाता है
इसके अनन्तर प्रस्तावना की जाती है । तत्र—नाटकमें । सभापूजा—विनीत वचनोंसे
सभ्योंको अभिमुख बनाना । आमुख—प्रस्तावना ।

पूर्वरङ्गका लक्षण इस प्रकार है—जो नाटकीय वस्तुके पहले नट आदिके द्वारा रङ्ग-
शालामें आने वाले विघ्नोंकी शान्तिके लिए किया जाता है, उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं ।

नाटकीका लक्षण इस प्रकार है । जो देव, द्विज, नृपति तथा ब्राह्मण आदिकी

अस्य नान्दीनामाङ्गस्य स्वरूपमाह भरतः—

‘देवद्विजनृपाऽऽदीनामाशीर्वादपरायणा ।

नन्दन्ति देवता यस्मात्तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥’

सूत्रधारः नान्दीं प्रयोज्य काव्यार्थसूचकैर्वचनैः रङ्गस्थान् सभ्यान् प्रसाद्य रूपकस्य कवेश्च आख्यां, कवेः गोत्राऽऽद्यपि कीर्त्तयेत् ।

अथ प्रस्तावना । तल्लक्षणमाह भरतः—

प्रस्तावनास्वरूपम्—

‘नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्विक एव वा ।

सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥

पूर्वरङ्ग इति उच्यते कथ्यते ।

यद्यपि पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादिकानि बहून्यङ्गानि सन्ति तथापि अवश्यकर्तव्यायाः नान्याः स्वरूपमाह भरतः—देवेति । देवाः द्विजाः नृपादयश्च तेषां आशीर्वादैः आशीर्वचनैः परायणा आश्रया एवं च यस्मात्, देवताः नन्दन्ति प्रसन्ना भवन्ति तस्माद् कारणात्, नान्दी इति शब्दः शब्दस्वरूपबोधकः । तेन नान्दी इत्याख्यया संज्ञया संज्ञिता कथितेत्यर्थः ।

श्लोकत्रयस्य संक्षेपतः अर्थं विवृणोति—सूत्रधार इत्यादिना । आमुखमित्युक्तं प्राक् तस्य प्रस्तावना इत्यर्थः । तस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासायाः निवृत्तये स्वरूपबोधकं लक्षणं विवक्षुराह—अथेति । प्रस्तावनास्वरूपमाह—नटीति । नटी स्त्रीत्वमविवक्षितं । अर्थात् स्त्रीबोधनतात्पर्येणानुचरितम् । तेन नटस्यापि ग्रहणं भवति । स च अभिनेता । विदूषकः हास्यकारको वा । पारिपार्श्विकः पार्श्ववर्तीनटविशेष एव वा । सूत्रधारेण सूत्रधारः नाटकस्य प्रधानः, मुख्योऽभिनेता तेन सहिताः सार्धं यत्र

आशीर्वाद परम्परासे युक्त हो, जिससे देवगण प्रसन्न होते हैं, उसे नान्दी कहते हैं ।

सूत्रधार नान्दीका प्रयोग करके काव्यार्थके सूचना देनेवाले मधुर वचनोंसे रङ्गमें स्थित सभ्योंकी प्रसन्नता करके रूपककी तथा कविकी संज्ञा, गोत्र तथा गुरुपरम्परा आदिका भी वर्णन करे ।

प्रस्तावनाका लक्षण भरतजीने किया है । नटीसे या विदूषकसे अथवा पारिपार्श्विकद्वारा सूत्रधारके साथ जहाँ चित्र वाक्योंमें, अपने कार्यके सम्बन्धमें, प्रस्तुत कथाके

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताऽऽक्षेपिभिर्मिथः ।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥'

नटीति स्त्रीत्वमविचक्षितं, प्रस्तुतस्य आक्षेपिभिः—उद्धोचकैः । तद्धे-
दाः कथितास्तेनैव—

प्रस्तावनाभेदाः—

'उद्धात्यकं कथोद्धातः प्रयोगातिशयस्तथा ।

प्रवृत्तकावलगिते आमुखाङ्गानि पञ्च वै ॥'

एषां क्रमेण लक्षणमाह स एव—

उद्धात्यकलक्षणम्—

'पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।

संलापं वार्तालपं कुर्वते । चित्रैः विचित्रैः स्वकार्योत्थैः स्वकार्यवशादुत्पन्नैः
प्रस्तुताक्षेपिभिः प्रस्तुतसूचकैः । वाक्यैः पदसमूहैः, मिथः परस्परं, तथा च
यत्र सूत्रधारः पूर्वोक्तैः सह कार्यादिवशादालापं करोति स प्रकरणम्, आमुखं,
प्रस्तावना इति वा संज्ञां प्राप्नोति ।

प्रस्तावना स्वरूपमुक्त्वा भेदानाह—उद्धात्यकमिति । उद्धात्यकं, कथोद्धातः,
प्रयोगातिशयः, प्रवृत्तकम्, अवलगतमितिभेदेन पञ्चभेदा आमुखे भवन्ति । उद्धात्य-
कादीनां लक्षणैरेवार्थावगतिर्भविष्यति इति पृथक् नाभिहिताः ।

उद्देश्यक्रमात्, प्रथमं उद्धात्यकलक्षणमाह—पदानिति । नराः नाट्ये नियुक्त-
पुरुषाः कुशीलवा इत्यर्थः । अगतार्थानि अज्ञायमानार्थानि, पदानि वर्णसमूहान् ।
तस्यार्थस्तस्य गतये ज्ञानाय हृद्गतभावस्य ज्ञानाय अन्यैः अपरैः पदैः सुप्तिरूपैः

आक्षेपके निमित्त परस्परमें बातचीत होती हो, उसे आमुख कहते हैं । इसका प्रस्तावना
भी दूसरा नाम है ।

नटी = इससे नटको भी समझना चाहिए । प्रस्तुतके आक्षेपकोंका (उद्धोचकोंका)
भेद ग्रन्थकारने स्वयं किया हैं ।

प्रस्तावना पांच प्रकारकी होती है । उद्धात्यक, कथोद्धात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक,
तथा अवलगित ।

इनके लक्षण भी उन्होंने क्रमसे दिये हैं । उद्धात्यक उसे कहते हैं जहां कोई वाक्य
बोला गया और वह समाप्त न होने पाया कि मध्यमें ही उस वाक्यको पूर्ण करनेके एलि

योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्धात्यकमुच्यते ॥

अगतः—अबोधित इति यावत्, अर्थः—हृद्गतो यैस्तानि, तस्य—
हृद्गतस्य अर्थस्य, गतये—बोधनाय । यथा मुद्राराक्षसे—

‘सूत्र०—क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम् ।

अभिभवितुमिच्छति बलात्—

॥२२॥

अनन्तरं [नेपथ्ये] । आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवि-
तुमिच्छति बलात् ?’

अत्र अन्यार्थवन्त्यपि पदानि हृद्गतार्थबोधनविरहात् पदान्तरैर्योज-
यित्वा पात्रप्रवेशः ।

कथोद्धातलक्षणम्—

‘सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ।

योजयन्ति नियोजयन्ति तद् उद्धात्यकमिति उच्यते—कथयते । इति कारिकार्थः ।

अमुमेवार्थं संचेपतः कथयति—अगतः इति । उदाहरणमाह यथेति ।
क्रूरग्रह इति । क्रूरग्रहः दुष्टग्रहः सकेतुः, पूर्णं मण्डलं यस्य तं पूर्णमण्डलम् ।
पूर्णमासीस्थं चन्द्रमसं चन्द्रम् इदानीं अस्मिन् काले, बलात् अभिभवितुं पराभवितुं
इच्छति अभिलषतीत्यर्थः, अत्र चन्द्रमसमिति चन्द्रगुप्तं ज्ञात्वा नेपथ्ये (आः क
एष, इत्यादिवदन्नेव पात्रप्रवेशः उद्धात्यकम् इति संज्ञां प्राप्नोति । अमुमेवार्थं निर्वक्ति
अत्रेति । अन्यार्थवन्त्यपि चन्द्रार्थवन्त्यपीत्यर्थः, पदानि चाणक्यहृद्गतार्थबो-
धनविरहात् चन्द्रगुप्तपदान्तरैः योजयित्वा अर्थं ज्ञात्वा पात्रस्य चाणक्यरूपस्य प्रवेशः ।

अथ क्रमप्राप्तं कथोद्धातं निरूपयति—सूत्रधारस्येति । यत्र नाटके सूत्रधार-

दूसरे प्रकारके पदोंसे वाक्य पूरा किया जाता हो । अगतः—पूर्ण न हुवा हो । अर्थ
हृदयसे अभिमत भाव । उस हृदयगत भावकी पूर्तिके लिए जिसका प्रयोग होता है ।

जैसे मुद्राराक्षसे—

केतुके साथ क्रूरग्रह पूर्णमण्डल चन्द्रमाको बलात् ग्रहण करना चाहता है ।

इसके बाद (नेपथ्यसे) अरे ! कौन जो मेरे रहते चन्द्रगुप्तको बलात् ग्रहण करने
की इच्छा रखता है ? ।

इस वाक्यमें दूसरे अर्थवाले चन्द्रमसादि पदोंको वक्ताके हृद्गत अर्थोंका परि-
त्याग कर अर्थान्तरवाचक पदोंको जोड़कर पात्रोंको प्रवेश कराया गया है ।

कथोद्धातका लक्षण इस प्रकार है । जहाँ पर सूत्रधारके वाक्य या वाक्यार्थको

गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्धातः स उच्यते ॥'

वाक्यमादाय रत्नावल्यां यथा—

द्वीपादन्यस्मादपि जलनिधेर्मध्यादपि दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय भट्टिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूय ॥ २३ ॥

इति सूत्रधारेण पठिते—'एवमेतत्, कः सन्देहः? द्वीपादन्यस्मा-
दपि' इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः ।

वाक्यार्थं गृहीत्वा वेण्यां यथा—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

स्य अभिनेतुः वाक्यं वाक्यार्थं वा गृहीत्वा पात्रं प्रविशेत् पात्रस्य प्रवेशः स्यात्
स कथोद्धात इति उच्यते कथ्यते इति भावः ।

तत्र वाक्यमादाय पात्रप्रवेशमुदाहरति—द्वीपादिति । अन्यस्मात् अपरस्मात्
द्वीपाद् देशात् अपि । जलनिधेः समुद्रस्य मध्याद् अन्तस्तलात् अपि दिशः
काश्याः अन्तात् प्रान्तात् अपि अभिमुखीभूय पुरतो भूत्वा विधिः दैवम्
अभिमतम् अभिप्रेतं भट्टिति शीघ्रतया आनीय समानीय घटयति निष्पादयति ।
विधिः स्वेच्छया अतर्कितमपि कार्यं भट्टिति निष्पादयतीत्यर्थः ।

वाक्यार्थं गृहीत्वा पात्रप्रवेशमुदाहरति—निर्वाणेति । निर्वाणो नष्टो वैररूपो दह-
नो येषां ते निर्वाणवैरदहनाः नष्टवैरागनयः । अरीणां शत्रूणां प्रशमात् शान्त्या
पाण्डुतनयाः पाण्डुपुत्राः माधवेन कृष्णेन सह सार्थं नन्दन्तु प्रसन्नाः भवन्तु ।
सभृत्याः भृत्यैः सहिताः, कुरुराजस्यः धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्राः, रक्तैः प्रसाधिता भूयै-
स्ते रक्तप्रसाधितभुवः शोणितक्षालितभुवः । क्षताः विग्रहाः येषां ते क्षतविग्रहाः

लेकर पात्रका प्रवेश होता हो, उसे कथोद्धात कहते हैं ।

वाक्यको लेकर जैसे रत्नावलीमें पात्र प्रवेश हुआ है—

विधि अभिमुख होकर अन्य द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे, दिशाओंके कोनेसे भी घट-
नाओंको शीघ्र लाकर घटाता है । इस प्रकार सूत्रधारके पढ़ने पर "हाँ, ऐसा है, क्या
सन्देह है? अन्यद्वीपसे भी" इत्यादि कहते हुए यौगन्धरायणका प्रवेश होता है ।

वाक्यार्थको लेकर पात्रप्रवेश—जैसे वेणीसंहार नाटकमें—

शत्रुओंके नाश हो जानेसे वैरागिको समाप्त करके पाण्डुपुत्र माधवके साथ आनन्द
करें और रक्तसे पृथ्वीको धोकर शरीरको नष्ट करके धृतराष्ट्रके पुत्र स्वर्ग चले जाँय । इस

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यास्यार्थं गृहीत्वा नेपथ्ये साधित्ते-
पम्—‘आः पाप ! दुरात्मन् ! वृथा मङ्गलपाठक !.....स्वस्था भवन्तु
मयि जीवति धर्तुराष्ट्राः ?’ ततः सूत्रधारो निष्क्रान्तः । अथ भीमसे-
नस्य प्रवेशः ।

प्रयोगातिशयलक्षणम्—

‘यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।

तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥’

यथा उत्तररामचरिते—

‘सूत्र । तत् किमनेन ?—एहि, राजद्वारमेव स्वजातिसमयेनोपति-
ष्टावः’ इति स्तुतिप्रयोगोद्यते सूत्रधारे, नटेन—

स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि

नष्टदेहाश्च स्वस्थाः स्वर्गस्थाः भवन्तु सन्तु । वैराग्निनाशात् माधवेन सह
क्रीडन्तु पाण्डुसुताः । समृत्याः कौरवाः मृयन्ताम् इति भावः ।

वाक्यार्थमिति । भीमः स्वस्थाः इत्यस्य सन्तुष्टाः इत्यर्थं बुद्ध्वा पठति
स्वस्थेति ।

प्रयोगातिशयं लक्षयति—यदीति । यदि सम्भावनायां एकस्मिन् प्रयोगे
प्रसङ्गे अन्यः अपरः प्रयोगः प्रसङ्गः प्रयुज्यते प्रयोगः क्रियते । तेन प्रयोगेणो-
त्थर्थः । पात्रस्य प्रवेशः पात्रप्रवेशश्चेत्तर्हि तदा स प्रयोगातिशयः प्रयोगाति-
शयशब्दवाच्य इति कारिकार्थः ।

उदाहरति—स्नेहादिति । जनकः सीतादेव्याः पिता स्नेहात् प्रेम्णा सभा-

प्रकार सूत्रधारके पढ़नेके बाद वाक्यार्थ समझकर नेपथ्यमें आक्षेपपूर्वक भीमसेनका
कथन “आः पाप ! दुरात्मन् ! व्यर्थ मङ्गलपाठक, मेरे जीते ही छतराष्ट्रके पुत्र आनन्द
करेंगे ।” इसके बाद सूत्रधार चला जाता है और भीमसेनका प्रवेश होता है ।

प्रयोगातिशय इस प्रकार है—यदि एक प्रयोगमें दूसरा प्रयोग प्रयुक्त हो और
उसके द्वारा पात्रका प्रवेश कराया जाय तो उसे प्रयोगातिशय कहते हैं । जैसे—
उत्तररामचरितमें—

सूत्रधार । तो इससे क्या ? । आओ, अपने जातीय नियमके अनुसार राजद्वार पर
ही चलें । इस प्रकार स्तुति करनेके लिए जब सूत्रधार उद्यत हुआ, उसी समय नट—
“महाराज जनक प्रेमके कारण इन दिनोंमें सत्कार करने तथा मिलने आए थे और

नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान् ।

देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय

धर्माऽऽसनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः ॥ २५ ॥

इति रामस्यान्तःपुरप्रवेशरूपं स्तुतिप्रयोगमतिशयानं प्रयोगान्तरं
प्रयुञ्जानेन सीतारामयोः प्रवेशः प्रयोजितः ।

प्रवृत्तकलक्षणम्—

‘कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रभृद् यत्र वर्णयेत् ।

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥’

सूत्रभृत्—सूत्रधारः, यथा—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।

जयितुं सन्तोषयितुम् एत्य आगत्य अमूनि व्यतीतानीत्यर्थः । दिनानि दिवसानि
उत्सवेन आनन्देन नीत्वा व्यतीय अद्य अस्मिन् दिने विदेहान् विदेहदेशान्,
गतः प्रस्थितः । तत् तस्माद्धेतोः विमनसः पितृवियोगदुःखितायाः देव्याः सीता-
याः परिसान्त्वनाय सान्त्वनां दातुं धर्मासनात् सिंहासनात् नरेन्द्रः नरपतिः
राम इत्यर्थः । वासगृहम् अन्तःपुरं विशतिः प्रविशति । राजकार्यं सीतासा-
न्त्वनाद् अतिशयितम् इति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

प्रवृत्तकं लक्षयति—कालमिति । यत्र नाटके प्रवृत्तं वर्तमानं कालं समयं
आश्रित्य गृहीत्वा सूत्रभृत्, सूत्रधारः वर्णयेत् वर्णनं कुर्यात् तदाश्रयः कालाश्र-
यश्च पात्रस्य नायकादेः प्रवेशः रंगभूमौ आगमनम् तत् प्रवृत्तकम् प्रवृत्तक-
नामकं भवतीति कारिकार्थः ।

उदाहरति—आसादितेति । आसादितः प्राप्तः प्रकटः प्रत्यक्षः निर्मलस्य

इतने दिनों तक यहीं रह गए थे । आज तक उत्सवके समय बिताकर अपने देश
विदेह नगर चले गए । अतः अपने पिताके वियोगसे सीताजी कुछ उदासीन हो गई थीं
उनको सान्त्वना देनेकेलिए राजसिंहासनसे उतरकर महाराज रामचन्द्र आज रनिवास
गृह की ओर जा रहे हैं । इस प्रकार रामचन्द्रका अन्तःपुर प्रवेशरूप स्तुतिप्रयोगसे
बढ़कर प्रयोगान्तरके प्रयोग द्वारा सीताराम का प्रवेश प्रयुक्त किया गया है ।

प्रवृत्तक उसे कहते हैं, जहां पर सूत्रधार प्रवृत्तकालको लेकर वर्णन करे और
उसी कालको लेकर पात्रोंका प्रवेश हो ।

सूत्रभृत्—सूत्रधार । जैसे—

स्वच्छ चन्द्रमाके हासके समान प्रकाश लेकर अत्यन्त सुन्दर विशुद्धकान्तिधारीः

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशाऽऽस्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः॥
ततो रामस्य प्रवेशः ।

अवलगितलक्षणम्—

‘यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
परानुरोधात् तज्ज्ञेयं नाम्नाऽवलगितं बुधैः ॥

शुद्धकान्तेः चन्द्रस्य चन्द्रमसः हासः विकासः येन स तथोक्तः । विशुद्धा कान्तिः यस्य स विशुद्धकान्तिः निर्मलच्छटाः सम्भृताः प्रफुल्लिताः बन्धुजीवाः पुष्पविशेषाः येन तादृशः, उग्रं भयावहं गाढं तमो यत्र तं गाढतमसं गाढान्धकारं, घनानां मेघानां कालं समयं घनकालं वर्षतुम् दशास्यमिव रावणमिव उत्खाय विनाश्य एष वर्तमानः । शरत्समयः शरदतुः प्राप्तः आगतः ।

रामपक्षे । आसादितः प्राप्तः प्रकटः निर्मलः चन्द्रहासः खड्गः येन स तथोक्तः । विशुद्धा निर्दोषा कान्तिः प्रभा यस्य स तथोक्तः । सम्भृताः पोषिताः बन्धूनां शरण्यानां जीवाः प्राणाः येन स तादृशः रामः उग्रं कठोरचेतसं गाढतमसं तमोगुणयुतं घनवत् कालं कृष्णवर्णं दशास्यं रावणम् उत्खाय नाशयित्वा रामः इव यथा इति द्वितीयार्थः ।

अवलगितं लक्षयति—यत्रान्यस्मिन्निति । यत्र नाटके अन्यस्मिन् वस्तुनि समावेश्य सादृश्यमुद्भाव्य अन्यत् अग्रं कार्यं पात्रप्रवेशादिरूपकार्यं परस्य भाविनः वस्तुनः अनुरोधात् आप्रहात् प्रसाध्यते कार्यं साधयन्ति तत् कार्यसम्पादकं बुधैः पण्डितैः नाम्ना नामतः अवलगितं ज्ञेयमिति कारिकार्थः ।

अति भयानक गाढान्धकारसे आच्छन्न वर्षाकालको, जैसे रामने रावणको उखाड़ा था, वैसे उखाड़ कर बन्धुजीव पुष्पोंसे सुसज्जित शरत् समय आगया । अथवा—सुन्दरखड्ग प्राप्तकर निर्मलकान्तिसे युक्त रामचन्द्र अपने शरणागत बन्धुओंका पालन करते हुए कठोरचित्त, तमोगुणस्वभाव वाले मेघके समान भयानक रावणको उखाड़ कर आ गए ।

यहां पहले अर्थसे कालका वर्णन किया गया है तथा द्वितीयार्थसे भगवान् रामका प्रवेश भी सूचित है । इसके बाद भगवान् रामका प्रवेश होता है ।

अवलगित उसे कहते हैं, जिसमें भावी वस्तुके अनुरोधसे किसी कार्यमें अन्यकार्यकी समावृत्ति दिखाकर प्रकृत कार्यको उपस्थित किया जाता हो ।

समावेश्य—सादृश्यमुद्भाव्य । यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

तथाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ २७ ॥

इति पद्ये दुष्यन्तरूपपात्रप्रवेशानुरोधेन तस्मिन्नेव सादृश्यमुद्भाव्य
आत्मनो गीतेन हतत्वरूपं कार्यं निष्पाद्यते इति ।

प्रस्तावनाऽन्ते रूपकस्य प्रकृतेतिवृत्तमारभेत ।

पताकास्थानकप्रयोगस्थलम्—

‘पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ।’

इह—रूपके, वस्तुनि—इतिवृत्ते ।

तल्लक्षणमुक्तं भरतेन—

पताकास्थानकलक्षणम्—

‘यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लीनोऽन्यः प्रयुज्यते ।

आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् ॥’

उदाहरति—तवेति । हारिणा मनोहारिणा तव त्वदीयेन गीतरागेण
गीतालापेन, अतिरंहसा अतिवेगवता सारङ्गेण मृगेण राजा दुष्यन्त इव
यथा एषः अहम् प्रसभं बलात् हृत आहतः अस्मि ।

प्रस्तावनाभेदानुक्त्वा तदन्ते क्रियमाणं कार्यं निर्दिशति—प्रस्तावनान्त
इति । प्रस्तावनान्ते प्रस्तावनासमाप्तौ रूपकस्य नाटकस्य प्रकृतं प्राकरणिकं
इतिवृत्तं इतिहासम् आरभेत कथयेत् ।

तत्र पताकास्थानप्रयोगस्थलं निर्दिशति—पताकेति । इह रूपके वस्तुनि
इतिहासे पताकास्थानकं सुविचार्य सम्यग् विचार्य योज्यं प्रयोक्तव्यमित्यर्थः ।

जैसे—तुम्हारे मनोहर गीतके रागसे मैं हर लिया गया हूँ, जैसे राजा दुष्यन्त
वेगवान् हरिणके द्वारा दूर तक हर लिए गए हैं । इसके बाद दुष्यन्तका प्रवेश
होता है ।

इस पद्यमें दुष्यन्तके प्रवेश करानेके लिए अपनेसे दुष्यन्तका तथा गीतसे हरिणका
सादृश्य दिखाकर हरणरूप कार्य सिद्ध किया गया है । रूपकमें (नाट्यमें) इति-
वृत्तके अनुसार विचारकर पताकास्थानककी योजना होनी चाहिए ।

पताकास्थानककी योजना भरतने किया है—जहांपर एक विषयकी चिन्ता की

यत्र एकस्मिन् विषये चिन्तते तत्संसक्तः अपरोर्थः अतकिंतेन भा-
वेन बोध्यते, तत् पताकास्थानकम् । यथा उत्तररामचरिते—

‘रामः । कथं प्रियवचना वक्षसि प्रसुप्तैव !! [निर्वर्ण्य सस्नेहम्]

इयं गोहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः

असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।

अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयः ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ २८ ॥

प्रतिहारी [प्रविश्य] देव ! उबत्थिदो (देव ! उपस्थितः)

रामः । अयि ! कः ?

प्रती० । आसण्णपरिचारश्चो देवस्स दुस्सुहो ।’

(आसन्न परिवारको देवस्य दुर्मुखः)

पताकास्थानकं लक्षयति—यत्रेति । वृत्तौ स्पष्टार्थः ।

उदाहरति—इयमिति । इयं सीता ममेत्यध्याहृत्य मम गोहे लक्ष्मीः श्रीः,
श्रीतुल्या इत्यर्थः । इयं सीता नयनयोः नेत्रयोः अमृतवर्तिः अमृतशलाका ।
अस्याः सीतायाः असौ अनुभूयमानः स्पर्शः त्वाचं प्रत्यक्षं वपुषि शरीरे
बहुलः घनः चन्दनरसः चन्दनद्रवः अयं कण्ठे कण्ठलग्नः बाहुः हस्तः शि-
शिरो मसृणश्च शीतः चिक्कणः मौक्तिकसरः मुक्तासक्, अस्याः सीतादेव्याः
किं न प्रेयः किं न प्रियम्, यदि किन्तु विरहः वियोगः परमसह्यः सोढुमशक्य
इति । शिखरिणी छन्दः ।

गई हो और उसीसे मिला हुआ दूसरा अर्थ अज्ञात अवस्थामें उपस्थित हो जाय
उसे पताकास्थानक कहते हैं । जैसे उत्तररामचरितमें—

राम—क्या प्रियबोलने वाली वक्षस्थलपर सो ही गई (स्नेहसे देखकर)

“यह मेरे घरकी लक्ष्मी तथा नयनके लिए अमृतशलाका है । इसका यह स्पर्श
शरीरमें चन्दनरसके समान लग रहा है । ये इसके हाथ कण्ठमें सुन्दर ठंडी सुचि-
क्कण मोतीकी माला है । इसका क्या प्रिय नहीं है ?, वस; केवल विरह ही असह्य है ।

प्रतिहारी (आकर) महाराज ! उपस्थित है ।

राम—अरे, क्या ?

प्रतीहारी—महाराजका सन्निकटवर्ती सेवक जिसका नाम दुर्मुख है ।

अत्र दुर्मुखोपस्थितिरूपार्थं चिन्तिते, सीताविरहरूपार्थः सूचितः ।
यथा वा वेण्याम्—

‘पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम्’ इति दुर्योधनेन कथिते,
[प्रविश्य सम्भ्रान्तः कञ्चुकी] । ‘देव ! भयं भयम्’ इत्यनेन वायुना रथ-
केतनभङ्गरूपार्थं चिन्तिते, भीमेन दुर्योधनोरुभङ्गरूपार्थः सूचितः ।

अर्थोपक्षेपकाः—

यत्तु युद्धवधाऽऽदिकमन्यञ्चानुचितमङ्गेष्वदर्शनीयं, तत्सर्वमर्थोपक्षे-
पकैः विष्कम्भकाऽऽदिभिः सूच्येत । आदिपदेन प्रवेशकाङ्गावतारा-
दयो गृह्यन्ते ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वा वेण्यामिति । भग्नमिति । भग्नं भीमेन मरुता
भवतो रथकेतनम् । पतितं किंकिणीध्वानबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥ इति श्लोकं विवक्षुः
यावत् भग्नम् इत्युवाच दूतस्तावत् स्वयमुच्चार्यमाणोरुयुग्मशब्देनान्वयं विधाय सम्भ्रान्तो
दुर्योधनः पृच्छति किं किम् इति । इत्थं ग्रन्थान्तरेऽपि पताकास्थानकं वेदितव्यम् ।

ननु नाटके एकदिननिवर्तनीया एव कथा प्रयोज्या इति नियमः । एवं तर्हि
अनेकदिननिवर्तनीया कथा रामायणरूपा कथं नाटकादौ दृश्यपदवीमधिगमिष्यति,
एवं ये च युद्धवधादयस्ते कथं नाटके दर्शनीयाः स्युः इति चेत्, श्रूयताम् अर्थो-
पक्षेपकैः अकच्छेदं विधाय पात्रप्रवेशेन वृत्तान्तस्य कथनीयत्वात् । अथ के ते
अर्थोपक्षेपकाः इत्यपेक्षायामाह—विष्कम्भकादिभिरिति । आदिना प्रवेशकाङ्गाव-
तारादीनां ग्रहणम् । यद्यपि अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विष्कम्भक-प्रवेशक-अङ्गावतार-
चूलिका-आमुष्मदेन, तथापि अत्र ग्रन्थे आद्यानां त्रयाणामेव ग्रहः ।

यहां पर दुर्मुखकी उपस्थितिसे सीता-विरह-रूप द्वितीयार्थं सूचित किया गया है ।

अथवा वेणीसंहारमें जैसे—

दुर्योधन—करभोरु ! मेरी दोनों जांघें तुम्हारे बैठनेके लिए पर्याप्त हैं ।

(बवड़ाहटके साथ कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज ! दूट गया, दूट गया ।

इसप्रकार वायुसे रथ की पताका टूटना प्राकरणिक अर्थसे भीमने दुर्योधन की
जङ्घा तोड़ दी यह अनिष्ट अर्थ सूचित हुआ ।

नाटकमें वही वस्तु दिखाई जा सकती है जो परदे पर आ सकती हो । नाटककारके
मुख्य कर्तव्य हैं कि वह युद्ध, वध, गाड़ी का आना, भीत का उड़ना आदि जो नहीं
दिखाए जा सकते, उन्हें अर्थोपक्षेपक यानी विष्कम्भकादिकोंके द्वारा सूचित करदे ।

विष्कम्भकस्य लक्षणमाह धनञ्जयः—

‘वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥’

वृत्तवर्तिष्यमाणानाम्—अतीतानां भाविनाञ्च, निदर्शकः—सूचकः, मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः । यथा—रत्नावल्यां प्रथमाङ्कादौ, अभिज्ञानशाकुन्तले च चतुर्थाङ्कादौ ।

प्रवेशकलक्षणम्—

‘प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विश्लेषः शेषं विष्कम्भके यथा ॥’ [विश्वनाथः]

अर्थोपक्षेपकेषु मध्ये प्रथमं विष्कम्भकं लक्षयति—वृत्तेति । वृत्तानाम् अतीतानां वर्तिष्यमाणानाम् आगामिनां कथांशानां अवान्तरार्थानां, कथाभागानामित्यर्थः । निदर्शकः प्रकाशकः, संक्षिप्तार्थः संक्षेपेणोक्तोऽर्थो यस्मिन् स तादृशः । मध्यपात्रप्रयोजितः मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः अभिनीतः विष्कम्भ इति उच्यते इति शेषः । यद्यपि साहित्यदर्पणे मध्यपात्रप्रयोजित इत्यस्य स्थाने आदावङ्कस्य दर्शित इति पाठः, अत्रे च व्यासेन मध्यपात्रप्रयोजितः इत्युक्तप्राय एव, तथापि ग्रन्थगौरवभयात् द्वयोः श्लोकयोः एकस्मिन् श्लोके धनञ्जयोक्तसंग्रहमादृत्य ग्रन्थकारस्य प्रवृत्तिः । इदं च शुद्धविष्कम्भकस्य लक्षणम् । मिश्रविष्कम्भकस्य लक्षणस्य तु चतुर्थपादस्थाने नीचमध्यमकल्पित इति पाठकरणेन निष्पत्तिः ।

उदाहरणमाह—रत्नावल्यामिति । आदिना उत्तररामचरितद्वितीयाङ्के तापसी वनदेवीभ्यां प्रयोजितः । अयं च शुद्धविष्कम्भकः ।

प्रवेशकं लक्षयति—प्रवेशकेति । अनुदात्तोक्त्या अमहतामुक्त्या प्राकृतगिरेत्यर्थः । नीचपात्रैः प्रयोजितः अभिनीतः । अङ्कद्वयस्यान्तः मध्ये विश्लेषः प्र-

विष्कम्भकका लक्षण धनञ्जयने कहा है—खेले गए हुए या खेले जाने वाले कथांश की सूचना देने वाला अर्थात् दोनों कथाओंका सन्दर्भ जोड़ने वाला मध्यपात्रोंसे किया गया सूचनांशका नाम विष्कम्भक है ।

जैसे—रत्नावली नाटिकाके प्रथम अङ्कके आदिमें अथवा अभिज्ञान शाकुन्तलके चतुर्थ अङ्कके आदिमें है ।

प्रवेशक उसे कहते हैं जो प्राकृतभाषामें नीचपात्रों द्वारा प्रयुक्त हो, दो अंकोंके

अनुदात्तोक्त्या—प्राकृतवचनेन, अङ्कद्वयान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यां तृतीयाङ्कादौ ।

अङ्कावतारलक्षणम्—

‘अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ।

यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ॥’ [विश्वनाथः]

यथा—अभिज्ञानशाकुन्तले पञ्चमाङ्कान्ते पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कः तदङ्कस्य अङ्गविशेष इवावतीर्णः ।

नाटकलक्षणोक्तसन्धिलक्षणमुक्तं दर्पणे—

‘अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।’

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।

तद्भेदानाह विश्वनाथः—

‘मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः ।

योज्यः । तेन प्रथमेऽङ्के निराशः कृतः । शेषं यथा विष्कम्भके तथैव बोध्यः । अर्थाद्यमपि वृत्तवर्तिष्यमाणकथांशनिर्देशक एव । उदाहरति—यथा वेण्यामिति ।

अङ्कावतारमाह—अङ्कान्ते इति । अङ्कान्ते एकस्याङ्कस्यावसाने पात्रैः नटैः तदङ्कस्य पूर्वाङ्कस्य अविभागतः अङ्गभावेन यत्र अङ्के प्रवेशः सूचितः उक्तः, अङ्कः यत्र अवतरति स अङ्कावतार इति स्मृतः कथित इति कारिकार्थः । उदाहरति—यथेति ।

अधुना सन्धिलक्षणमुच्यते—अन्तरेति । एकान्वये एकस्मिन् प्रयोजने सति अन्तरा मध्ये एकार्थसम्बन्धः परस्परं संयोगः सन्धिरित्यर्थः ।

सन्धीनां भेदानाह—मुखमिति । मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्ष-उपसंहृति-

मध्यमें हो अर्थात् प्रथम अङ्कके आदिमें न हो, विष्कम्भककी भाँति अतीत और भविष्य कथांशोंका सूचक हो । जैसे—वेणीसंहार नाटकके तृतीय अङ्कमें है ।

अङ्कावतार उसे कहते हैं जहाँ अङ्कके अन्तमें विना किसी विभागके किए ही पात्रों द्वारा सूचित कथांशसे अङ्कान्तरका अवतार होता हो । जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तलके पञ्चम अङ्कके अन्तमें पात्रोंसे सूचित षष्ठाङ्क पञ्चमाङ्कका अङ्ग बनकर ही प्रयुक्त है ।

नाटकलक्षणप्रकरणमें विश्वनाथने सन्धिलक्षण भी कहा है कि ‘एक प्रयोजनसे पर-स्परान्वित कथांशोंका मध्यवर्ती एक प्रयोजन सम्बन्ध ही सन्धि कहलाता है ।’

सन्धि भी पाँच प्रकारकी होती है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्ष और उपसंहार ।

मुखलक्षणम्—

‘यत्र बीजसमुत्पत्तिस्तन्मुखं परिकीर्तितम् ।’ [विश्वनाथः]

यथा—अभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमाङ्के दुष्यन्तशकुन्तलयोः परस्परा-
नुरागरूपस्य बीजस्य उत्पत्तिः ।

प्रतिमुखलक्षणम्—

‘लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।’ [दशरूपकम्]

तस्य—बीजस्य । यथा—तत्रैव द्वितीयेऽङ्के दुष्यन्तानुरागस्य नाति-
परिस्फुटप्रकाशः ।

गर्भलक्षणम्—

‘फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।

गर्भो यत्र समुद्भेदो हासान्वेषणवान् मुहुः’ ॥ [विश्वनाथः]

मेदेन पञ्च सन्धयः भवन्ति ।

यथोद्देशं प्रथमं मुखलक्षणमाह—यत्रेति । यत्र बीजस्य दृश्यभ्रव्यभेदप्रस्तावे
उक्तस्य समुत्पत्तिः समुद्भवः तन्मुखं मुखाख्या सन्धिः । उदाहरति—यथेति ।

प्रतिमुखं लक्षयति—लक्ष्यालक्ष्येति । लक्ष्यालक्ष्यः किञ्चिल्लक्ष्यः इव उद्-
भेदः उद्देशः तस्य अनुरागरूपबीजस्येत्यर्थः । तस्य प्रतिमुखमिति संज्ञा । उदाह-
रति—द्वितीयाङ्क इति ।

गर्भलक्षणलाह—फलेति । यत्र फलस्य प्रधानस्य यः प्रधानमुपायः तस्य
प्राक् पूर्वमुद्भिन्नस्य उद्भेदं गतस्य किञ्चन लक्ष्यालक्ष्यतया प्रकाशितस्य, बी-
जस्येति भावः । मुहुः पुनः पुनः हासान्वेषणवान् क्वचित् तिरोभाववान् , क्विद्
अनुसन्धानवान् वा समुद्भेदः सम्यक् प्रकाशः गर्भः । गर्भाख्यः सन्धिरित्यर्थः ।

मुखतो वह है जहां बीज की उत्पत्ति हो । अर्थात् थोड़ा सा निर्दिष्ट अंश जो
नाटकमें फैले और फलका प्रधान कारण हो । जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें
दुष्यन्त और शाकुन्तलाका प्रथम परस्परानुराग ही इतनी बड़ी कथाका कारण है
वही बीज है ।

प्रतिमुख उसे कहते हैं जहां बीजकी उत्पत्ति कुछ लक्ष्य कुछ अलक्ष्य—सी हो ।
जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमें ही द्वितीय अङ्कमें दुष्यन्तका अनुराग न तो व्यक्त ही है
और न तो अव्यक्त ही ।

गर्भ उसे कहते हैं जहां फलका प्रधान कारण कुछ व्यक्त हो गया हो, उसके
मिलनेके लिए प्रयत्न भी किया गया हो और अन्तमें उसका हास भी हो । जैसे—

यथा—तत्रैव तृतीयेऽङ्के उभयानुरागस्य सम्यक् प्रकाशः, मुहुरन्वेषणम्, शकुन्तलाप्रस्थानाऽऽदिना हासश्च ।

विमर्षलक्षणम्—

‘यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।

शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्ष इति स्मृतः ॥’ [दर्पणः]

यथा—चतुर्थेऽङ्के उत्कर्षं प्राप्नोऽनुरागो दुर्वाससः शापेन विधितः ।

निर्वहणलक्षणम्—

‘बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।

एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥’ [दशरूपकम्]

उदाहरति—यथेति । शाकुन्तले तृतीयाङ्के शकुन्तलादुष्यन्तयोरनुरागस्य प्रकाशः हासः प्रेषणादिना, कारणान्वेषणस्यानुसन्धान इति समन्वयः ।

विमर्षं लक्षयति—यत्रेति । यत्र मुख्यफलस्य प्रधानफलस्य उपायः गर्भतः गर्भसन्धिमपेक्ष्य अधिकः उद्भिन्नः प्रकाशितः शापाद्यैः अभिसम्पातप्रभृतिभिः आदिना भयादयः । सान्तरायः सविघ्नश्च स ‘विमर्षः’ इति स्मृतः कथितः । उदाहरति—यथेति । शाकुन्तले दुर्वाससः शापेन विधितः ।

उपसंहतिलक्षणमाह—बीजवन्त इति । यत्र यथायथं यथाप्रदेशं विप्रकीर्णाः विनिवेशिताः बीजवन्तः मूलकारणसमन्विताः मुखाद्यर्थाः मुखसन्धिरूपाः इतिवृत्तभागाः । अर्थाः कार्याणि एकार्थम् एकप्रयोजनकम् । उपनीयन्ते प्राप्यन्ते तत् हि निर्वहणम् उपसंहतिरित्यर्थः ।

अभिज्ञान शाकुन्तलके तृतीय अङ्कमें दोनोंका परस्पर अनुराग व्यक्त हुआ, दुष्यन्त शकुन्तलाके लिए उस वनमें गया जहां वह थी तथा गौतमीके साथ शकुन्तलाके चले जानेके कारण वह यज्ञरक्षाके लिए गया ।

विमर्ष उसे कहते हैं जहां गर्भसे अधिक फलका कारण व्यक्त हो तथा शाप, राजदण्ड या अन्य किसी कारणसे अन्तराय आगए हों ।

जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलके ही चतुर्थ अङ्कमें शकुन्तला और दुष्यन्तका बड़ा हुआ अनुराग दुर्वासाके शापसे विधित हो गया है ।

उपसंहति उसे कहते हैं । (उपसंहतिका ही नामान्तर निर्वहण है) जहां बीजवाले मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्ष आदि सन्धियोंके अर्थ विखरे हुए हों और वे एक प्रधान अर्थमें परस्पर समन्वयके साथ जुटते हों । जैसे—अभिज्ञान शाकुन्तलके

यथा—तत्रैव सप्तमाङ्के शकुन्तलादुष्यन्तयोर्मेलनरूपतया सर्वकार्याणामवसानम् । उपसंहृतेरेव नामान्तरं निर्वहणम् ।

अथ नाट्योक्तयः—

‘सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ।

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ॥

उदाहरति—यथेति ।

नाटकतदङ्गभेदानुक्त्वा नाट्योक्तीः प्रकाशयति—सर्वेति । प्रकाशं सर्वश्राव्यं स्यात् । यत्र प्रकाशम् इति लिखितं भवेत् तत् सर्वश्राव्यं भवेत् । अत्र सर्वपदं नाटकीयपात्रपरं सभ्यानां कृते तु सर्वं श्राव्यमेव । स्वगतम् अश्राव्यमित्यर्थः । यत् अन्यस्य रहस्यम् अन्यस्मै परावृत्य कथ्यते तत् अपवारितम् । त्रिपताकेति । त्रिपताकस्य लक्षणन्तु—

प्रसारिताः समाः सर्वाः यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।

कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः सा पताका इति स्मृतः ।

तत्र— पताके तु यदावक्राऽनामिका त्वंगुलिर्भवेत् ।

त्रिपताकः स विश्लेषः—इति ॥ स्पष्टम् ॥

त्रिपताको यः करः तेन अन्यान् अपवार्य आच्छाद्य कथामन्तरा कथामध्ये जनान्ते जनसमीपे यत् अन्योन्यस्य परस्परस्य आमन्त्रणं कथनोपकथनं तत् जनान्तिकम् इत्युच्यते इति शेषः । पात्रं सम्बोध्य जनं विना किं ब्रवीषि इत्युक्ते एवं

सम अङ्गमें शकुन्तला और दुष्यन्तका इन्द्रके यहांसे लौटते समय मिलना और पताका अवसान होना ।

नाट्य—शास्त्रमें किसे क्या कहना चाहिए इसका विशद विवेचन हम नीचे करते हैं ।

“जो सबको सुनाई दे उसे ‘प्रकाशम्’ कहते हैं । जो अपने आप सुने और कहे उसे ‘स्वगतम्’ कहते हैं । जो बात किसीसे छिपाकर मुड़कर, थोड़ी दूर जाकर या कानके पास दूसरेसे कही जाय उसे ‘अपवारितम्’ कहते हैं । अनामिका अर्थात् मूँधी अङ्गुलीको झुकाकर हाथ उठाना ‘त्रिपताका’ कहलाता है । त्रिपताकासे दूसरोंको हटाकर दो व्यक्तिके परस्पर बातचीतको जो सबके सामने हो रही हो उसे ‘जनान्तिकम्’

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
 श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥' [दशरू०]
 'प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।
 राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥
 राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
 राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥
 स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतारैः ।
 वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥

इत्यादि अनुक्तमपि श्रुत्वा इव एकः यत् ब्रवीति तद् अकाशभाषितं स्यात् ।
 प्रायेण गमधातोः स्थाने ण्यन्तकः ण्यन्तप्रत्ययान्तः साधिः साध् धातुः प्रयुज्यते ।
 यथा-साधयेति । भृत्यैः अमात्यादिभिः राजा स्वामी, देव इति वाच्यः । अधमैः
 नीचपात्रैः भट्ट इति वाच्यः ।

राजर्षिभी राजा वयस्य इति वाच्यः, तथा विदूषकेणापि वयस्य इत्येव । ऋषिभिः
 राजन् ! इति वाच्यः । अपत्यप्रत्ययेन च अपत्यप्रत्ययान्तेन—यथा 'रामाय' दाशरथे
 इति । विप्रैः ब्राह्मणैः विप्रः स्वेच्छया अपत्यप्रत्ययेन नामभिर्वा वाच्यः । इतरैः अन्यैः
 विप्रः आर्य इति वाच्यः । राज्ञा वयस्य इति नाम्ना वा नामप्रहपुरस्सरं वा विदूषकः

कहते हैं । कोई पात्र स्वयं क्या कहते हो ? अच्छा, ऐसा, इत्यादि क्रमसे विना किसी
 दूसरे पात्रके बोले ही बोलता है वह 'आकाशभाषित' कहा जाता है । प्रायः साध
 धातुका ण्यन्त प्रयोग जैसे 'साधय' का गमनार्थमें प्रयोग होता है । भृत्य, अमात्य
 आदि उत्तम पात्र राजाको देव, स्वामी, महाराज आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं ।
 अधम और नीचपात्र राजाके लिए भट्ट शब्दका प्रयोग करते हैं । मित्र, राजगण
 तथा विदूषक राजाके लिये वयस्य, मित्र आदि शब्दका प्रयोग करते हैं । महर्षि गण
 राजन् या अपत्यप्रत्ययान्त अर्थात् पिताके नामके सामने तद्धितीय अपत्यार्थक प्रत्यय
 जोड़कर बोलते हैं जैसे—दाशरथे ! कौरव ! वासुदेव ! आदि । ब्राह्मण परस्पर ब्राह्मणसे नाम
 लेकर या गोत्र आदिसे पुकारते हैं । जैसे—जामदग्न्य, कौशिक, सांकृत्यायन, गार्ग्या
 यण आदि । ब्राह्मणेतर ब्राह्मणको विप्र, आर्य आदि शब्दोंसे पुकारते हैं । विदूषक को
 राजा वयस्य या नाम लेकर बुलाता या सम्बोधित करता है । नदी सूत्रधारको आर्य और

वाच्यौ नटीसूत्रधाराचार्यनाम्ना परस्परम् ॥
 सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥
 सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
 वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैराय्येति चाग्रजः ॥
 भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।
 वदेद्राज्ञीञ्च चेटीञ्च भवतीति विदूषकः ॥
 आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धस्तातेति चेतरेः ।
 वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥
 शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
 विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥

वाच्यः । नटीसूत्रधारौ परस्परम् आर्यपदसहितनाम्ना वाच्यौ । नटी तु आर्या पदेन
 वाच्या अयोग्यत्वात् आर्यशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वादित्यर्थः । पारिपार्श्विकः सूत्रधारं भाव
 इति वदेत् वै निश्चयेन । सूत्रधारः पारिपार्श्विकं मारिष इति अधमैः समाः हण्डे इति
 वाच्याः । वयस्येति उत्तमैः, हंहो इति मध्यमैः, आर्य इति अग्रजः वाच्यः ।

सर्वैः देवर्षिलिङ्गिनः भगवन् ! इति वक्तव्याः । विदूषकः राज्ञीं चेटीं च भवति
 इति वदेत् । सूतः सारथिः रथिनं आयुष्मन् इति । वृद्धः इतरैः युवभिर्बालैश्च 'तात'
 इति वाच्यः । सुतः पुत्रः शिष्यः अनुजश्च, वत्स, पुत्रक, तात, नाम्ना, गोत्रेण वा
 वाच्यः । अधमैः अमात्यः आर्य इति वाच्यः । अयम् अमात्यः विप्रैः अमात्येति वाच्यः ।

सूत्रधार नटीको आर्या शब्दसे सम्बोधित करता है । पारिपार्श्विक सूत्रधारको भाव शब्दसे
 सम्बोधित करता है । सूत्रधार पारिपार्श्विकको मारिष शब्दसे सम्बोधित करे । नीच पात्र
 अपने समान श्रेणीके पुरुषोंसे हण्डे आदि शब्दोंका प्रयोग करें । उत्तम पात्र परस्परमें वय-
 स्य, मध्यमपात्र परस्परमें हंहो शब्दसे सम्बोधित करें । छोटा भाई बड़े भाई को आर्य
 शब्दसे सम्बोधित करे । देवता, ऋषि तथा संन्यासी को भगवन् ! शब्दसे सम्बोधित
 करे । सारथि रथस्थ को आयुष्मन्, युवा या बच्चे वृद्ध को तात, और वृद्ध भी पुत्र या शिष्य
 को वत्स, पुत्रक, तात अथवा नाम या अपत्यप्रत्ययान्त जैसे गार्ग्य या आजकी तरह
 शुक, मिश्र आदि शब्दोंसे सम्बोधित करे । नीचपात्र मन्त्रीको आर्य, विप्र, अमात्य

उपाध्यायेति चाऽऽचार्यः कुमारो भर्तृदारकः ॥

सौम्य भद्रमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ॥

वाच्या प्रकृतिभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ।' [दर्पणः]

'हण्डे हञ्जे हलाह्वानं नीचां चेटीं सखीं प्रति ॥' [अमरः]

श्रव्यकाव्यस्य लक्षणं भेदांश्चाऽऽह—

'श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत् त्रिविधं परिकीर्तितम् ।

पद्यं गद्यञ्च मिश्रञ्च पद्यं चतुष्पदी मतम् ॥

जातिवृत्तमिति द्वेषा जातिमात्राकृतेन तत् ।

वृत्तमक्षरसङ्ख्यातं पद्येनैकेन मुक्तकम् ॥'

सचिवः इति च भण्यते कथ्यते । आचार्यः गुरुः उपाध्यायेति वाच्यः । भर्तृदारकः राजकुमारः कुमार इति वाच्यः । अधमैः कुमारकः सौम्य इति भद्रमुखेति वा वाच्यः । प्रकृतिभिः प्रजाभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका इति वाच्या । हण्डे इति नीचां प्रति हञ्जे इति चेटीं प्रति, हला इति सखीं प्रति आह्वानम् इति क्रमेणान्वयः ।

एतेन वाक्यसमूहेन दृश्यकाव्यभेदानुक्त्वा श्रव्यकाव्यभेदान् आह—श्रव्यमिति । श्रोतव्यमात्रं काव्यं श्रव्यं तत् त्रिविधं परिकीर्तितम् कथितम् । पद्यं, गद्यं, मिश्रं (चम्पू) च इति भेदेनेत्यर्थः । पद्यं (वृत्तं) चतुष्पदी चतुर्भिर्पादैः निर्मितं मतम् अभिमतम् । यथा श्लोकः, तद्वाच्यं रघुवंशादिः ।

वृत्तभेदावाह—जातिरिति । जातिच्छन्दो-वृत्तच्छन्दोभेदेन द्विधा । तत्र मात्राकृतं मात्रया गणितं जातिच्छन्द इत्यर्थः, मात्रिकं छन्दः यत्र तत्, जातिच्छन्द इत्यर्थः । अक्षरसंघातम् अक्षरेण गणितं वृत्तच्छन्दः ।

सचिव आदि कहे । आचार्यको उपाध्याय, और राजकुमारको भर्तृदारक, सौम्य, भद्रमुख कहे । नीच पात्र राजकुमारको कुमारक कहे । राजकुमारी को भृत्यवर्ग भर्तृदारिका कहे । नीच स्त्रीको, चेटीको हञ्जे तथा सखीको हला शब्दसे सम्बोधित करे ।

पहले काव्यके दो भेद कहे गए हैं दृश्य और श्रव्य । दृश्य काव्यके विषयमें हमने ऊपर कह दिया । अब श्रव्य काव्यके विषयमें तथा उनके भेद कहेंगे ।

जो केवल सुना जा सके अर्थात् जिसका अभिनयद्वारा प्रदर्शन न हो सके उसे श्रव्य काव्य कहते हैं । वह तीन प्रकारका है पद्य, गद्य, दोनों मिला हुआ (चम्पू) । पद्य (वृत्त) उसे कहते हैं जिसमें चार पाद हों । वृत्त दो प्रकारके होते हैं—एक जातिपद्य और दूसरा वृत्तपद्य । जातिपद्य वे हैं जिनमें मात्राके द्वारा छन्दोंकी व्यवस्था होती है । वृत्तपद्य

‘द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
 कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥’
 पद्यमयस्य महाकाव्यस्य लक्षणमुक्तं काव्यादर्श—
 ‘सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
 आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम् ॥
 इतिहासकथोद्भूतमितरद् वा सदाश्रयम् ।
 चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥
 नगराण्यवशैलतुचन्द्रसूर्याऽऽदिवर्णनैः ।

एकेन पद्येन सम्बन्धे मुक्तकम्, द्वाभ्यां पद्याभ्यामर्थसमाप्तौ युग्मकम्, त्रिभिः श्लोकैः वाक्यसमाप्तौ विशेषकम्, चतुर्भिः कलापकं ज्ञेयं, तदूर्ध्वं कुलकं कुलकाख्यं स्मृतम् ।

पद्यलक्षणमुक्त्वा पद्यसमूहस्य संज्ञां निर्वक्ति । महाकाव्यखण्डकाव्यमेतेन पद्यात्मकं काव्यं द्विविधं तत्र महाकाव्यलक्षणमाह—सर्गबन्ध इति । सर्गबन्धः सर्गैः अवान्तरार्थवर्णनैः समाक्षिप्तः बन्धः महाकाव्यम् इत्युच्यते । तस्य लक्षणम् उच्यते कथ्यते । आशीः, आशीर्वादात्मकः, नमस्क्रिया नमस्कारात्मकः, वस्तुनिर्देशः वस्तुनिर्देशात्मकः, वा तस्य मुखम्—आरम्भः । इतिहासकथोद्भूतम् इतरत् अन्यद्वा लोकप्रसिद्धं सदाश्रयं सज्जनाश्रयं चतुर्वर्गस्य धर्मार्थकाममोक्षस्य फलोपेतं फलयुक्तम् । चतुरः उदात्तः उदारश्च नायकः यस्मिन् तं चतुरोदात्तनायकम् । नगर-अर्णव-शैल-ऋतु-चन्द्र-

उसे कहते हैं जिसमें अक्षर गणनाके द्वारा छन्दोंकी व्यवस्थाकी जाती है। पद्य पांच-प्रकारके होते हैं। मुक्तक, युग्मक, विशेषक, कलापक और कुलक। मुक्तक उस छन्दका नाम है जो किसी अन्य पद्यसे असम्बद्ध हो, जैसे अमरुशतक, गाथा सप्तशती, भामिनीविलास, आदि। युग्मक उसे कहते हैं जहां दो श्लोकोंका एकमें अन्वय होता हो। ऐसे श्लोक प्रायः प्रत्येक काव्योंमें उपलब्ध होते हैं। विशेषक उसे कहते हैं जिसमें तीन श्लोक एकमें सम्बद्ध रहते हों। जैसे माघ, किरातके द्वितीयसर्गमें उपलब्ध हैं। कलापक उसे कहते हैं जिसमें चार श्लोक परस्पर सम्बद्ध हों। इसके बाद कुलक है इसमें कितने भी श्लोक एकमें सम्बद्ध हों इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं है।

पद्यमयकाव्य—जिसमें सर्गबन्ध हों वह महाकाव्य कहा जाता है। उसका लक्षण निम्न प्रकारसे है—जिसके प्रारम्भमें आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तुनिर्देश किया गया हो। ऐतिहासिक कथा उसका आधार हो। अन्य उत्कृष्ट बातें जिसमें वर्णित हों। जाधर्म, कर्म, काम तथा मोक्ष फलोंसे युक्त हो, चतुर तथा उदात्त नायक वाला हो, नगर, समुद्र

अलङ्कृतमसङ्क्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तरूपेत् लोकरञ्जकम् ॥
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥'

यथा—रामायण-रघुवंश-शिशुपालवध-नैषधचरिताऽऽदिः ।

खण्डकाव्यलक्षणम्—

'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।'
यथा—मेघदूतादिः ।

गद्यलक्षणम्—

'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं, तद्भेदास्तु कथाऽऽद्यः ।'

सूर्यादिवर्णनैः युतम्, अलङ्कृतम्—अलङ्कारयुक्तम्, असंक्षिप्तं संक्षेपरहितम् । रसभावनिरन्तरम् सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः । उद्बुद्धमात्रः स्थायीभाव इत्यभिधीयते । एवंभूतैः रसभावैः निरन्तरम् व्याप्तम् । अनतिविस्तीर्णैः अतिविस्ताररहितैः सर्गैः श्रव्यवृत्तैः छन्दोभिः सुसन्धिभिः सन्धिसहितैः । सर्वत्रान्ते भिन्नच्छन्दोभिः उपेतं युक्तम् । लोकरञ्जनं लोकमनोहरम् । सदलङ्कृति अलङ्कारयुक्तम् । एवं काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते इति कारिकार्थः । खण्डकाव्यं लक्षयति—खण्डकाव्यमिति । यत् काव्यस्य एकदेशानुसारि भवेत् तत् खण्डकाव्यं भवेत् । यथा मेघदूतादिः ।

गद्यकाव्यलक्षणमाह—वृत्तेति । वृत्तस्य च्छन्दसः बन्धेन उज्झितं रहितं काव्यं

पर्वत, ऋतु, चन्द्र तथा सूर्य आदिका वर्णन हो । अलङ्कारोंसे शोभित हो, संक्षिप्त न हो, पद पद पर रस तथा भाव उद्बुद्ध होते हों । सर्ग बहुत बड़े न हों, वृत्त सुन्दर सुनने योग्य हों, सन्धियोंसे युक्त हों, प्रत्येक सर्गके अन्तमें भिन्न भिन्न छन्द हों, लोकके मनको आकृष्ट करने वाले हों, अच्छे अलङ्कारोंसे युक्त हों, ऐसे लक्षण वाले काव्य कल्पान्तरमें भी प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ।

जैसे—रामायण, रघुवंश, शिशुपालवध और नैषधचरित आदि ।

खण्डकाव्य—जो काव्यके एक देशका अनुसरण करता हो वह खण्डकाव्य है । वसन्त वर्णन, सन्देश, विलाप, वर्तालाप आदि छोटे छोटे प्रकरणों पर एक एक काव्य बने हैं वे ही खण्डकाव्य कहे जाते हैं । मेघदूतका नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

गद्यकाव्य—जिसमें वृत्तबन्ध न हो वह गद्य काव्य कहा जाता है । वह कथा आख्यायिका आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका होता है । इस समय कहानी और उप-

यथा—कादम्बर्यादिः ।

चम्पूलक्षणम्—

‘गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधीयते ।’

पद्यमिश्रत्वश्चात्र बाहुल्येनेति ज्ञेयम् । ततश्च कादम्बर्यादिषु एक-
द्वित्रिपद्यसत्त्वेऽपि न तेषां गद्यकाव्यत्वहानिः ।

इति दृश्यश्रव्यत्वभेदेन काव्यप्रभेदनं नाम चतुर्थशिखा समाप्ता ।

गद्यकाव्यं तद्भेदाः कथादयः । आदिना आख्यानाख्यायिकादीनां ग्रहणम् । उदाह-
रति—यथा कादम्बरी । दशकुमारचरितादिः ।

मिश्रकाव्य लक्षणमाह—गद्येति । गद्यपद्यमयं मिश्रं मिश्रितं (चम्पू) काव्यमिति
अभिधीयते उच्यते ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल-रचितायां काव्यदीपि-
काया मयूखटीकायां चतुर्थी शिखा समाप्ता ।

न्यास का नाम हिन्दी साहित्यमें अधिक सुनाई पड़ता है । हिन्दी कहानीकार छोटी
छोटी कहानियोंको कहानी कहते हैं । तथा बड़ी बड़ी कहानियोंको उपन्यास कहते
हैं । किन्तु संस्कृतमें कथा शब्द कहानी और उपन्यास दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है ।
हाँ; कथाके लिए कुछ विशेष नियम हैं जो हिन्दीकी कहानी या उपन्यासोंमें प्राप्य
नहीं हैं । फिर भी यह इन्हींका विकृतरूप है । कथा की घटना सत्य हो या असत्य,
इसके लिए कोई नियम नहीं हैं । जैसे—कादम्बरी ।

चम्पूकाव्य—गद्य पद्यसे मिश्रित काव्य चम्पूकाव्य कहा जाता है । मङ्गलाचरण
या बीचमें एक या दो श्लोक आजानेसे कोई कथा चम्पू नहीं हो सकती । जिस
काव्यमें कुछ वर्णन श्लोकोंमें हो और कुछ गद्योंमें हों इसी प्रकार निरन्तर समान रूपसे
गद्य तथा पद्यसे सम्बद्ध काव्य चम्पूकाव्य कहा जाता है । इसीलिए कादम्बरी आदि
कथा, हर्षचरित आदि आख्यायिका हैं । काव्योंमें एक दो पद्योंके रहनेसे भी चम्पू-
काव्य नहीं कहे गए । इनके भेद नलचम्पू, भरतचम्पू आदि ग्रन्थ देखनेसे ज्ञात हो
सकते हैं ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्लरचित
किरण नामकी हिन्दी टीकामें चतुर्थ शिखा समाप्त ।

पञ्चमशिखा

दोषस्वरूपं तद्भेदांश्चाऽऽह —

काव्यापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः ।

पदपदांशवाक्यार्थरसानां दूषणेन हि ॥

ये खलु पदवाक्यरसाऽऽदिदूषणद्वारेण काव्यस्यापकर्षमुत्पादयन्ति, ते नाम दोषनाम्ना कथ्यन्ते । ते पुनः पदपदांशवाक्यार्थरसदूषणद्वारेण काव्यं दूषयन्तीति प्रथमतः पञ्चविधाः । तत्र—

पदमात्रगता दोषाः—

निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कृतित्वञ्च पदगतान्येव ।

निरर्थकत्वम्—अर्थहीनत्वम् । यथा—‘च, वा, हा’ऽऽदीनि वृत्तपूरण-
मात्रप्रयोजनानि रामायणाऽऽदिषु बाहुल्येन द्रष्टव्यानि ।

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा इत्यपेक्षायां दोषस्वरूपं तद्भेदांश्चात्राह—काव्येति । काव्यस्यापकर्षकाः दोषाः । ते च पञ्चधा मताः पञ्चप्रकाराः । हि यस्मात् कारणात्, पद-पदांश-वाक्य-अर्थ-रसानां दूषणेन, पञ्चधा मता इत्यन्वयः ।

उद्देश्यक्रमेण पदगतदोषानाह—निरर्थकैति । दोषेषु पदगतानि निरर्थकत्व-
असमर्थत्व-च्युतसंस्कारत्वानि एव भवन्तीत्यर्थः ।

निरर्थकत्वं लक्षयति—अर्थहीनत्वमिति । पादपूरणमात्रप्रयोजनकमित्यर्थः । उदाहरति—यथेति । वृत्तेति । वृत्तपूरणमात्रमेव प्रयोजनं येषां तानि वृत्तपूरणमात्रप्र-
योजनानि । मात्रपदं समुच्चयार्थकम् । चकारादीनां निरर्थकत्वव्यवच्छेदाय । रामाय-
णादिषु इति । आदिपदेन महाभारतपुराणादीनि द्रष्टव्यानि ।

दोषोंके स्वरूप और उनके भेद—

दोष काव्योंके अपकर्षक हैं । वे पांच प्रकारके होते हैं—पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रसमें रहनेवाला । जो दोष रसको दूषित करता है वही दोष है । जो दोष पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रसादिको दूषित करते हुए काव्यको दूषित करते हैं, वे पांच प्रकारके होते हैं । इनमें निरर्थकत्व, असमर्थत्व, च्युतसंस्कृतित्व केवल पदमात्रघृत्ति होते हैं ।

निरर्थक उसे कहते हैं, जिसमें कोई अर्थ न हो । जैसे “च, वा, ह” आदि केवल घृत्तपूर्तिके लिए ही प्रयुक्त होते हैं । इनका रामायण महाभारत आदिमें बाहुल्य दिखाई पड़ता है । वहीं देखना चाहिए ।

असमर्थत्वं—तदर्थे पठितमपि तस्य अवाचकत्वम् । यथा—
 ‘कुञ्जं हन्ति कृशोदरी’ इत्यत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र
 समर्थम् । च्युतसंस्कारत्वं—व्याकरणलक्षणहीनत्वम् । यथा—
 ‘गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या-
 माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ।’

[किरातार्जुनीयम्]

‘आडो यमहनः’ [१।३।२८ पा०] ‘स्वाङ्गकर्मकाच्च’ [पा० १।३।२७
 सू० वा०] इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्याकर्मस्य
 चाऽऽत्मनेपदं नियमितम् । इह तु तदुल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षणहीन-

असमर्थत्वं लक्षयति—तदर्थ इति । उदाहरति—यथेति । कुञ्जं हन्तीति ।
 कृशमुदरं यस्याः सा कृशोदरी क्षाममध्या नायिका कुञ्जं लतागहनप्रदेशं निकुञ्जमिति
 यावत् । हन्ति गच्छति इत्यर्थः । अत्र व्याकरणशास्त्रे हन् हिंसागत्योः इति हिंसागम-
 नार्थे पठितमपि लोके गमनार्थे प्रयोगादर्शनात् तेन असमर्थता प्रकटीकृता ।

च्युतसंस्कारत्वं लक्षयति—व्याकरणेति । उदाहरति—यथेति । गाण्डीवीति ।
 गाण्डीवी अर्जुनः कनकशिलानिभं कनकशिलासदृशं विषमविलोचनस्य त्रिने-
 त्रस्य शिवस्येत्यर्थः । वक्षः उरःस्थलम्, भुजाभ्यां हस्ताभ्याम्, आजघ्ने प्रजहार ।

दोषं प्रकाशयति—आड इति । अनुशासनेति । सूत्रं वार्तिकं चेत्यर्थः ।
 अयं भावः—आडो यमहनः, स्वाङ्गकर्मकाच्च इति नियमेन आङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गक-
 र्मकस्याकर्मकस्य च आत्मनेपदं नियन्त्रितम् । अत्र तु स्वाङ्गस्याहननादेरभावात् आत्म-

असमर्थत्व उसे कहते हैं, जो व्याकरणादि द्वारा उस अर्थमें पठित हो, किन्तु उस
 अर्थका वाचक न हो । जैसे—“कुञ्जं हन्ति कृशोदरी” (कृशोदरी कुञ्ज की ओर जा
 रही है) यहां पर व्याकरणमें हन् धातुका गमनार्थमें प्रयोग होने पर भी लोकमें
 हन् धातुका मारना ही अर्थ प्रसिद्ध है, गमन नहीं ।

च्युतसंस्कारत्व उसे कहते हैं, जिसमें व्याकरणकी अशुद्धि हो । जैसे—(गाण्डीवी
 (धनुष) धारी अर्जुनने सुवर्णकी शिलाके समान विशाल शिवजीके वक्षःस्थलमें
 प्रहार किया) यहां “आजघ्ने” पद आत्मनेपदमें प्रयुक्त हुआ है यह ठीक नहीं है,
 क्योंकि ‘आडो यमहनः’ सूत्रके ऊपर वार्तिक ‘स्वाङ्गकर्मकाच्च’ है; अतः जहां स्वाङ्गकर्मक
 अकर्मक आङ् उपपद हन् धातु हो वहीं आत्मनेपद होता है, यह अर्थ होगा । यहां
 पर शिवके वक्षःस्थलमें अर्जुन द्वारा प्रहार हुआ है, अतः स्वाङ्गकर्मक आहनन नहीं

त्वात् च्युतसंस्कारत्वम् ।

पदवाक्यगताः दोषाः—

दुःश्रवानुचितार्थत्वे ग्राम्यत्वं निहतार्थता ।

क्लिष्टत्वमप्रतीत्वं विरुद्धमतिकारिता ॥

अविमृष्टविधेयांशभावः सन्दिग्धता तथा ।

पदवाक्याऽऽश्रिता दोषाः पदांशेऽप्येषु केचन ॥

दुःश्रवत्वं परुषवर्णतया श्रुतिदुःखाऽऽवहत्वम् । पदगतं यथा—

बन्धुभिः सादरं नेत्रैः पीयमानेव सा मुहुः ।

सुताऽऽननेन्दुपूर्णाङ्गा कार्त्तार्थ्यं लभतां कदा ॥ २६ ॥

नेपदं न युक्तमिति पाणिनीयव्याकरणसूत्रवार्तिकविरुद्धत्वात् च्युतसंस्कारत्वमिति ।

पदमात्रगतान् दोषानुक्त्वा पदवाक्यगतान् दोषानाह—दुःश्रवेति । दुःश्रव-
त्वम्,, अनुचितार्थत्वं, ग्राम्यत्वं, नियतार्थत्वं, क्लिष्टत्वं, अप्रतीतत्वम्, विरुद्धमतिकारित्वं,
अविमृष्टविधेयांशभावत्वं, सन्दिग्धत्वम् एते दोषाः पदाश्रिताः वाक्याश्रिताश्च ।
एषु केचन पदांशेऽपि भवन्ति ।

क्रमेणोदाहरति—दुःश्रवत्वमिति । परुषवर्णतया कर्कशाक्षरतया श्रुतिदुःखा-
वहत्वं श्रवणकटुः । पदगतं दुःश्रवत्वमुदाहरति—पदगतमिति । बन्धुभिरिति । सा
काचित् सुन्दरी बन्धुभिः बन्धुसम्बन्धिभिः नेत्रैः नयनैः मुहुः वारंवारं सादरम्
आदरपूर्वकं पीयमाना अवलोक्यमाना इव यथा सुतस्य अननेन्दुना पूर्णोऽहो
यस्याः सा सुताननेन्दुपूर्णाङ्गा तनयमुखचन्द्रपूर्वोत्संगा कदा कस्मिन् काले
कृतार्थस्य भावं कार्त्तार्थ्यं कृतार्थत्वं लभतां प्राप्नोतु । बान्धवानन्दजनकसुतयुक्ताङ्गा
एषा कदा सफला भविष्यति इति भावः ।

है, अतः आत्मनेपद करना अयुक्त है इसलिष्प यहां च्युतसंस्कारत्व दोष है ।

पद-वाक्यगत दोष—दुःश्रवत्व, अनुचितार्थत्व, ग्राम्यत्व, निहतार्थत्व, क्लिष्टत्व,
अप्रतीतत्व, विरुद्धमतिकारित्व, अविमृष्टविधेयांशभाव और सन्दिग्धत्व, ये पद और
वाक्य गत दोषोंके नाम हैं, इनमें कुछ पदांशमें भी होते हैं ।

दुःश्रवत्व उसे कहते हैं, जो कड़े वर्णोंके होनेसे सुननेमें कर्णकटु हो । पदगत
दुःश्रवत्व जैसे—जो बन्धुवोंके द्वारा नेत्रोंसे सादर बार बार देखी जा रही है, वह पुत्रके
मुखचन्द्रसे भरी गोद वाली बनकर कब कृतार्थ होगी ।

अत्र कार्त्तार्थ्यमिति श्रुतिकटुः ।

वाक्यगतं यथा—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनसाप्सीत् सममंस्त बन्धून् ।

व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ ३० ॥ [भट्टिः]

पदांशेऽप्येतत् । यथा—

‘तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम्’ इत्यत्र ‘द्धयै’ इति पदांशं दुष्टमाहुः ।

दोषं साधयति—अत्रेति । श्रुतिकटु इति । श्रवणपरुष इत्यर्थः ।

पदगतं दुःश्रवत्वं निरूप्य वाक्यगतं वक्तुमुपक्रमति—वाक्येति । स इति । स दशरथः वेदान् अध्यैष्ट पपाठ । त्रिदशान् देवान् अयष्ट यज्ञेन तर्पयामास । पितृन् अताप्सीत् तर्पयामास । बन्धून् बान्धवान् सममंस्त संमानयामास । षणां कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां वर्गः षड्वर्गस्तं षड्वर्गं व्यजेष्ट जिगाय । नीतौ नीतिशास्त्रे अरंस्त रेमे । नीत्या राज्यं चकारेत्यर्थः । समूलं हन्तीति समूलघातस्तं समूलघातं मूलादुत्पाटयारींश्च शत्रून् न्यवधीत् जघान । उपजातिः वृत्तम् ।

अत्र सोऽध्यैष्ट वेदान्, त्रिदशानयष्टादिवाक्ये एव अध्यैष्टादिवाक्यगतपदानां दुःश्रवत्वं दोषः ।

ननु पदगतदुःश्रवत्वे कार्त्तार्थ्यमिति वाक्यगते च अध्यैष्टादिपदानामेव दोषत्वे कथं पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन भेदकथनमिति चेत् न । एकस्य पदस्य दुष्टत्वे पददोषत्वम् एवं च वाक्ये अधिकपदानां तथात्वे दोषस्य वाक्यगतत्वसिद्धेः । तेन पूर्वं पदगतदोषनिरूपणौ कार्त्तार्थ्यं पदस्यैव दुःश्रवत्वेन कथनं वाक्यगतदोषोदाहरणश्लोके च अध्यैष्ट-अयष्टादिपदानां दुष्टत्वेन वाक्यगतत्वं सिद्धयति ।

दुःश्रवत्वनिरूपणप्रस्तावे पदगतं वाक्यगतं च दुःश्रवत्वं निरूप्य “पदांशेषु केचन” इति प्रतिज्ञातानुसारम् अस्य पदांशेऽपि उदाहरणाय प्रक्रामति—पदांशेऽपीति । एतद् दुःश्रवत्वमित्यर्थः । पदांशेऽपि भवतीति शेषः । उदाहरति—यथेति । तद्गच्छेति ।

यहां ‘कार्त्तार्थ्य’ पद श्रुतिकटु है ।

वाक्यगत दुःश्रवत्व जैसे—उसने (दशरथने) वेदोंको पढ़ा, देवताओंको यज्ञसे वृष किया, पितरोंको (स्वधाकारसे) वृष किया, बन्धुओंका सम्मान किया; काम, क्रोध, लोभ, मद और मात्सर्यरूप षड्वर्गको जीत लिया; नीतिपर आराम किया और शत्रुओंको जड़से उखाड़ दिया । यहां पर “अध्यैष्ट, अरंस्त” आदि पद सुनने में अच्छे नहीं लगते । ये वाक्यगत दोष हैं ।

दुःश्रवत्व पदांशगत भी होता है । जैसे—“सिद्धिके लिए जाओ, देवकार्य करो”

अनुचितार्थत्वं पदगतं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
 प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
 प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो
 रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥ ३१ ॥

तत् तस्मात्कारणात् सिद्धयै कार्यसाधनाय गच्छु याहि देवानां कार्यं देवकार्यं
 कुमारोत्पत्तिरूपं कुरु सम्पादय इति वाक्यार्थः ।

इत्यत्र अत्र वाक्ये सिद्धयै इति पदस्य 'ध्यै' इत्यंशः दुष्टः, श्रुतिकट्टरित्यर्थः ।

ननु पदांशपदवाक्यगतानां दोषाणां क्रमेण दोषत्वे प्रतिपादनीये कथं व्युत्क्रमेण
 पदवाक्यपदांशगतानां प्रतिपादनमिति चेत् ; श्रूयताम्, पदांशे केचन एव दोषाः
 सम्भवन्ति । ते च पदवाक्यगतदोषाणां निरूपणानन्तरम्, अयं दोषः पदांशेऽपि इति
 निरूपयितुं सुकरः इति कृत्वा तस्य अन्ते सन्निवेशः । वाक्यपदपदांशगतानां दोषाणां
 निरूपणक्रमस्तु न सम्यक् 'वर्णाः पदं, वाक्यं पदसमूह' इति क्रमेण द्वितीयशिखायां
 निरूपणेन पूर्वापरक्रमविरोधात् ।

पदवाक्यपदांशगतदुःश्रवत्वमुदाहृत्य पदगतं अनुचितार्थत्वमुदाहर्तुमाह—अनु-
 चितार्थत्वमिति । उदाहरति—यथेति । तप इति । या गतिस्तपस्विभिश्चान्द्रा-
 यणादिव्रतपरैः सुचिरेण चिरकालेन लभ्यते या च सत्रिभिः यागानुष्ठानादिकर्तृभिः
 प्रयत्नतः नियमाचरणेन इष्यते काम्यते । ताम् उत्तमां गतिं स्वर्गादिरूपां यश-
 स्विनः कीर्तिशालिनः पुरुषाः रणम् एव अश्वमेधस्तस्मिन् रणाश्वमेधे रणयागे
 पशुतां पशुभावं । अश्वमेधयज्ञे पशोः आवश्यकता भवति । ते च रणाश्वमेधे पशवः
 भवन्ति इति तात्पर्यम् । उपागताः प्राप्ताः आशु प्रयान्ति अवलेशेनाल्पेनैव कालेन
 गच्छन्ति ।

इस वाक्यमें 'ध्यै' यह 'सिद्धयै' पदका एक अंश है, किन्तु श्रुतिकट्ट है, अतः
 पदांशगत दोष है ।

अनुचितार्थत्व पदगत जैसे—“तपस्वी लोग जिस गतिको (अनेक प्रकारका कष्ट
 सहन कर) बहुत दिनोंके बाद पाते हैं, प्रयत्न द्वारा याज्ञिक जिसे चाहते हैं, उस गतिको
 यश चाहने वाले वीर रण-रूप अश्वमेधमें पशु बनकर शीघ्रतासे प्राप्त कर लेते हैं”। यहाँ
 'पशु' पद कातरताका द्योतक है । जैसे पशु परवश होकर अपना शिर कटा लेता

अत्र पशुपदं कातर्यम् अभिव्यनकीत्यनुचितार्थम् ।

वाक्यगतं तूह्यम् ।

ग्राम्यत्वं—केवलं लोके एव स्थितत्वम् । पदगतं यथा—

‘किं रुषा शोणितस्पर्द्धीं गल्लस्ते स्पन्दते भृशम्’ ।

वाक्यगतं यथा—

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।

अत्र श्लोके पशुपदं कातर्यमभिव्यनक्ति । यथा पशवः करवालनादिकं विना परवशा यागे हन्यन्ते तथैवैते वीरा अपि इति कातर्यस्य स्पष्टतया प्रतीतेः ।

ऊह्यमिति । वाक्यगतम् अनुचितार्थं यथा—कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राम-
मभितो यशोगायन्त्येते दिशि दिशि च नगनास्तव विभो । । शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुट-
विकटसर्वांगसुभगा तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥” नगनाः स्तुतिपा-
ठकाः, पक्षे दिगम्बराः । अत्र कुविन्दादिशब्दो कौलिकरूपार्थान्तरं प्रतिपादयन्,
स्तुत्यस्य तिरस्कारं व्यनक्ति इत्यनुचितार्थत्वम् । **ग्राम्यत्वमिति ।** हालिकायविद-
ग्धमात्रचमत्कृतिजनकत्वम् । एतदेव लक्षणं स्पष्टयति—**केवलमिति ।** केवलं लोके एव
लोकमात्रे चमत्कारजनकतया स्थितत्वम् । पदगतमुदाहरति—**यथेति ।** किमिति ।
ते तव, शोणितेन रुधिरेण स्पर्धते इति तच्छीलः **शोणितस्पर्द्धीं** अतीव रक्तः गल्लः
गलप्रदेशः रुषा क्रोधेन भृशम् अत्यन्तं किं किमर्थं स्पन्दते परिस्फुरति ।

अत्र शोणितस्पर्द्धीं गल्लपदस्य नाऽलौकिकमचत्कारजनकत्वं किन्तु ग्रामवासि-
जनानां कृते एव, इत्यस्य ग्राम्यदोषदुष्टता । वाक्यगतं ग्राम्यत्वदोषमुदाहरति—**ताम्बूले-**
ति । ताम्बूलेन भृतं पूर्णं गल्लं गलप्रदेशः कपोलः यस्य स ताम्बूलभृतगल्लः ताम्बूल-

है, वैसे वीर परवश होकर कट जाते हैं अर्थात् विना हाथ पैर हिलाए ही मृत्युके घाट
उतर जाते हैं, यह कातरता वीरोंके लिए पशु पदसे व्यक्त की गई है, वह अनुचित है ।

(वाक्यगत का उदाहरण संस्कृत टीका में ही सरल रूप से दर्शाया गया है)

ग्राम्यत्व दोष वह है, जो केवल लोकमें ही बोला जाता हो अर्थात् चमत्कार
रहित हो । पदगत जैसे—“क्रोधसे रक्तकी स्पर्धा करनेवाला तुम्हारा गाल अत्यन्त
फड़क रहा है ।” इस वाक्यमें गल्ल शब्द केवल लोकप्रसिद्ध है, अतः ग्राम्य है ।

वाक्यगत जैसे—“मुखमें पान भरे हुए यह मनुष्य अच्छा (भल्ल) बोल रहा है ।
सदाही जैसे खाता पीता है, वैसे बोलता भी है ।” इस वाक्यमें गल्ल, भल्ल, मानुष,
खादन और पान शब्द ग्राम्य हैं ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ ३२ ॥

प्रथमे गल्लशब्दः, द्वितीये भल्लादयश्च शब्दाः ग्राम्याः ।

निहतार्थत्वम्—उभयार्थकस्य शब्दस्य अप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—‘यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत्’ ,

शम्बरशब्दो दैत्यविशेषे प्रसिद्धः, इह तु जले निहतार्थः ।

क्लिष्टत्वम्—अर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । पदगतं यथा—

पूर्णमुखः अयं एष मानुषः मनुष्यः यथा येन प्रकारेण खादनं भक्षणं पानं च सदैव सर्वदा करोति तथा तेन प्रकारेण भक्षणं इति जल्पति वदति ।

अत्र प्रथमे पादे गल्लशब्दः द्वितीये पादे भल्लशब्द मानुषशब्दश्च तृतीये पान-शब्दः लोके एव प्रयुज्यत इति एते शब्दाः ग्राम्याः । इत्ययं श्लोकः ग्राम्यदोषदुष्टः ।

पदगतं निहतार्थमुदाहरति—निहतार्थत्वमिति । प्रसिद्धार्थकेनाऽप्रसिद्धार्थतिरो-धानत्वम् । एतदेव स्पष्टयति—उभयार्थेनेति । उदाहरति—यमुनेति यमुनायाः शम्बरं यमुनाशम्बरं यमुनाजलम् शम्बरम् आकाशं व्यतानीत् आच्छादयत् ।

अत्र शम्बरशब्दः जलार्थकोऽपि दैत्यविशेषे रूढः, न तु जलार्थे । पयोऽस्मिन् जलार्थे एव पठितः इति दैत्य-विशेषे प्रसिद्धार्थकेन शम्बरशब्देन अप्रसिद्धस्य जलरू-पायस्य तिरोधानं जातं इति निहतार्थत्वं स्पष्टमेव ।

ननु असमर्थत्वनिहतार्थत्वयोः को भेद इति चेदत्र केचित् ? शक्त्यभाववत्पदप्रयो-गोऽसमर्थत्वं, शक्तिसत्त्वे अप्रसिद्धार्थकपदप्रयोगः निहतार्थत्वमिति, तन्न सम्यक् ? अस-मर्थत्वेऽपि हन्त्यादेः गमनार्थे शक्तेः व्याकरणादिना प्रतिपादितत्वात् । परे तु ज्ञापकं विना अप्रसिद्धार्थे प्रयोगः असमर्थत्वदोषस्य विषयः । एवं श्लेषादिस्थलेषु प्रयुक्त-स्यापि सर्वत्राप्रयुक्तस्य प्रयोगे निहतार्थत्वदोषस्य विषयः इति उभयोर्भेदः ।

क्लिष्टत्वमिति । भूयोऽर्थपरम्परया तात्पर्यविषयीभूतार्थप्रत्यायकत्वं क्लिष्टत्वम् ।

निहतार्थं दोष वह है, जो उभयार्थ शब्दोंका अप्रसिद्धार्थमें प्रयोग किया जाता है । जैसे—“यमुनाका जल आकाशमें छा गया है ।” इस वाक्यमें शम्बर शब्द दैत्यमें प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ अप्रसिद्ध जल अर्थमें निहतार्थ है ।

क्लिष्टत्व उसे कहते हैं जिसका अर्थ समझनेमें देर लगे । पदगत जैसे—“चीर-सागरसे उत्पन्न लक्ष्मीके वासस्थान कमलकी जन्मभूमि (जल) प्रसन्न हैं”, इस विचित्र वाक्यसे “जल प्रसन्न हैं” यह ही अर्थ कहा गया है । अतः क्लिष्टत्व दोषसे यह वाक्य

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ।'

अत्र क्षीरोदजा—लक्ष्मीः, तस्या वसतिः—पद्मम्, तस्या जन्मभुवः—जलानि, इत्यतिकष्टेन बोधः ।

वाक्यगतं यथा—

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावादयाः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥३३॥

अत्र धम्मिल्लस्य—केशबन्धस्य, शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न

एतदेव संक्षेपेण लक्षयति—अथोत । पदगतमुदाहरति—क्षीरेति । प्रसन्ना आपः इत्यस्मिन्नर्थे एतादृशोऽर्थः परम्परया प्रतिपादित इति कष्टत्वमर्थप्रतीतौ ।

यथा वा—गौगजवाहनभोजनभक्षोद्भूतपमित्रसपत्नजशत्रोः, वाहनवैरिक्ृतासन-
दृष्टा त्वामिह पातु जगत्त्रयतुष्टा । गवा वृषेण गच्छतीति गोगः शिवः तज्जः
कार्तिकेयः तस्य वाहनं मयूरः तस्य भोजनं सर्पः तस्य भक्षो भक्षणं वायुः तस्माद्दु-
द्भूतः उत्पन्नो हनूमान् तं पाति रक्षति योऽर्थात् सुग्रीवः तस्य मित्रं श्रीरामचन्द्रः
तत्सपत्नो रावणः तज्जः मेघनादः तच्छत्रोरिन्द्रस्य वाहनमैरावतो गजः तस्य वैरी
सिंहः तत्र कृतासनेन स्थित्या दृष्टा जगत्त्रयतुष्टा दुर्गा इह त्वां पातु रक्षतु । यद्यपि
शत्रोः इत्यस्य वाहनमित्यनेनान्वयः “पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेनेति”
नियमविरुद्धस्तथापि दोषप्रदर्शनमात्रतात्पर्येणोहोपन्यस्तः । अत्र समासस्य पदगततया
पददोषत्वव्यवहारः । अत्रापि भूयोऽर्थपरम्परया तात्पर्यविषयीभूतार्थप्रत्याकत्वस्य
सत्त्वेन दोषत्वं स्पष्टमेव ।

वाक्यगतं क्लिष्टत्वमुदाहरति—धम्मिल्लेति । अपूर्वा पूर्वमश्रुता दृष्टा च बन्धस्य
प्रथनस्य व्युत्पत्तिर्ज्ञानं यस्यास्तस्या अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः । कुरङ्गशावस्य
अक्षिणी इव अक्षिणी यस्यास्तस्याः कुरङ्गशावादयाः चञ्चलहरिणलोचनायाः धम्मि-
ल्लस्य संयतकेशकलापस्य शोभां सौन्दर्यं प्रेक्ष्य वीक्ष्य कस्य पुंसो मानसं
चित्तं निकामम् अत्यन्तं न रज्यति नानुरागं वहति । अपितु वहत्येव सर्वेषां हृदय-
मनुरागम् । अत्रान्वयः क्लिष्टः इति वाक्यगतं क्लिष्टत्वमत्र । एतदेवार्थं विवृणोति मूले
अत्रेत्यादिना ।

दुष्टं हुआ । क्योंकि क्षीरसागरसे उत्पन्न लक्ष्मी उसकी वास भूमिकमल उन कम-
लोंकी जन्मभूमि जल है यह अर्थ कष्टसे जाना जाता है ।

वाक्यगत जैसे—“हरिण-शावाचीके अपूर्व-बन्धन-कौशलसे संयत-केश-कलाप-

रज्यतीति सम्बन्धः क्लिष्टः ।

अप्रतीतत्वम्—एकदेश(शास्त्रान्तर)मात्रप्रसिद्धत्वम् । यथा—
'योगेन दलितः ऽऽशयः ।'

अत्र आशयशब्दो वासनाऽर्थो योगशास्त्रे एव प्रसिद्धः ।
विरुद्धमतिकारिता यथा—

उदारचरितो धीमान् सर्वलोकप्रियङ्करः ।

अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ? ॥ ३४ ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्येषु मित्रमिति
विरुद्धा प्रतीतिः ।

अप्रतीतत्वं लक्षयति—अप्रतीतत्वमिति । शास्त्रैकगम्यत्वमप्रतीतत्वम् । एत-
देव लक्षयति—एकदेशेति । शास्त्रैकदेशे शास्त्रे नतु सर्वशास्त्रे । उदाहरति—योगे-
नेति । योगेन योगक्रियया आशयः वासना दलितः नाशितः । अत्राशयशब्दो
वासनार्थे योगशास्त्रे एव प्रसिद्धः काव्यशास्त्रे तस्याप्रयुक्तत्वं बोध्यम् ।

विरुद्धमतिकारित्वमुदाहरति—विरुद्धेति । लक्षणं तु—वर्णनाविरुद्धार्थप्रतीति-
जनकत्वं विरुद्धमतिकारित्वम् । उदाहरति—उदारेति । असौ एकः केवलम्,
उदारं चरितं यस्यासौ उदारचरितः उदात्ताचारः धीर्बुद्धिरस्यास्तीति धीमान्
बुद्धिमान् सर्वेषां लोकानां मनुष्याणां प्रियंकरोतीति प्रियङ्करः इति सर्वलोकप्रियङ्करः
सर्वप्राणिहितकर्ता कार्यं विना मित्रं अकार्यमित्रं निःस्वार्थमित्रमित्यर्थः । वर्तते इति
शेषः । अतः तस्य विषये किं वर्णयामहे किं ब्रूमहे ? ।

(जूरा) की शोभा देखकर किसका हृदय अत्यन्त अनुरक्त नहीं होगा ।” इस वाक्यमें
उक्त अर्थ समझनेमें अन्वय क्लिष्ट है अतः यह वाक्यगत दोष है ।

अप्रतीतत्व उसे कहते हैं जो किसी एक शास्त्रमें प्रसिद्ध हो और अन्य शास्त्रमें
उसका प्रयोग किया जाय । जैसे—“उसने योगसे वासना नष्ट कर दी है ।” इस
वाक्यमें आशय शब्द वासना अर्थमें प्रयुक्त हुआ है किन्तु वासना अर्थ योग शास्त्रमें
ही प्रसिद्ध है साहित्यमें नहीं । साहित्यमें यह अप्रयुक्त दोषसे दुष्ट हुआ ।

विरुद्धमतिकारित्व दोष उसे कहते हैं, जहां अविवक्षित विपरीत अर्थ प्रतीत होता
हो । जैसे—“यह उदारचरित, बुद्धिमान्, सबका प्रियकर्ता और अद्वितीय अकारण-
मित्र है; इसके विषयमें क्या वर्णन करूं । अर्थात् इसके गुण वर्णनातीत हैं ।” इस

अविमृष्टः—प्रधान्येनानिर्दिष्टः, विधेयांशो यत्र तस्य भावः
अविमृष्टविधेयांशभावः, अयं विधेयाविमर्श इति च कथ्यते । यथा—

वपुर्विरूपाक्षमलदयजन्मता

दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यत् बालमृगाक्षि ! मृग्यते

तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ? ॥३५॥ [कुमारस०]

अत्र अकार्यमित्रमिति पदस्य अकार्येषु मित्रं अर्थात् यदा अकार्यं करोमि तदा
मित्रमन्यथा नेति विरुद्धार्थस्यापि प्रतीतिर्जायते एव इति अत्र विरुद्धम-
तिकारित्वं दोषः ।

अविमृष्टविधेयांशं व्युत्पादयति—अविमृष्टेति । लक्षणं तु—समासविहितविधेय-
कत्वम् । समासविहितत्वं च इतरविशेषणत्वेन निर्दिष्टत्वमेव । उदाहरति वपुरिति ।
कपटवद्वेषधारिणः शिवस्य पार्वतीं प्रति उक्तिरियं कुमारसम्भवे ।

हे मृगाक्षि ! हरिणलोचने । शम्भो इति आदिः । शम्भोः वपुः शरीरं विरू-
पाणि विषमाणि अक्षीणि यस्य तत्, विरूपाक्षं विरूपनेत्रम् । अत्र विरूपाक्षपदं न
त्रिनेत्रत्वबोधकं किन्तु विकलाङ्गत्वमात्रबोधकम् एकेन त्रयेण वा विरूपाक्षतोपपत्तेः ।
उभयविधार्थप्रतिपादकसम्मान्यपदेन स्व स्व बुद्ध्या सत्यार्थस्यासत्यार्थस्य च बोधे
जाते वक्तुः सत्यता अनुष्णा भवति कार्यं च सिद्धयति इति मध्यमेन पदेन वर्णयति ।
एवं सर्वत्रैव बोध्यम् । अलदयम् अज्ञातं जन्म यस्य स तस्य भावस्तत्ता अलदयजन्मता
अकुलीत्वम् अनादित्वं चार्थः । वक्तुः निन्दायामेव तात्पर्यं तेन अकुलीनत्वमत्रार्थः ।
दिशः एव अम्बराणि यस्य सः, तस्य भावः तत्त्वं तेन दिगम्बरत्वेन नमत्त्वेन वसु
धनं निवेदितं सूचितम् । (अतः) वरेषु उपयन्तृषु यत् वस्तु, गुणो वा मृग्यते स
गुणः किम् इति प्रश्ने त्रिलोचने शिवे व्यस्तमपि विकलमपि अस्ति सर्वं सम्प-

वाक्यमें अकार्यमित्र शब्द “कार्यके विना भी मित्र” इस अर्थको कहनेके लिए प्रयुक्त
है, किन्तु आपाततः “असत्कार्योंमें मित्र” यह भी अर्थ प्रतीत होता है ।

अविमृष्टविधेयांश—अविमृष्ट = प्रधानतया अनिर्दिष्ट उद्देश्यविधेयभाव जिसका
हो वह अविमृष्टविधेयांश दोष कहलाता है । इसका दूसरा नाम विधेयाविमर्श भी
है । जैसे—“नेत्र विरूप हैं अर्थात् असमान हैं, माता पिताका पता भी नहीं है, दिग-
म्बर हैं अर्थात् नम रहते हैं, अतः सम्पत्ति भी जानी जा चुकी है । हे बालमृगनयने !
वरके जितने गुण शास्त्रमें कहे गए हैं उनमेंसे एक भी त्रिलोचन (शिव) में व्यस्त

अत्र अलक्ष्यं विधेयं, तस्य च समासे गुणीभावादप्राधान्येन निर्देशः । यथा वा—

“अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्त्तमपि सा पुरा” ।

अत्र नञो विधेयत्वमेवोचितम् । यथा निम्ने श्लोके—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः

सुरधनुरिदं दूराऽऽकृष्टं, न तस्य शराऽऽसनम् ।

अयमपि पटुर्धाराऽऽसारो, न बाणपरम्परा

‘अमस्ति इति कथयतोऽपि नैकोऽपि वरस्य गुणः भगवति शिव इति वक्तुराशयः ।

लक्षणसमन्वयं बोधयति—अत्रेति । अत्र स्थले अलक्ष्यं विधेयं तच्च अलक्ष्यजन्मता इति समासे गुणीभूतम् अतः अप्रधानम् । तेन विधेयस्य जन्मपदविशेषणत्वेन विन्यासात् अविमृष्टविधेयांशो दोषः ।

पदसमासगतं दोषमुक्त्वा नञ् समासगतं दोषमुदाहरति—यथा वेति । अमुक्तेति । हे नाथ ! सा नायिका पुरा पूर्वकाले भवता मुहूर्त्तमपि क्षणमपि अमुक्ता अत्यक्ता आसीदिति शेषः ।

अत्र अमुक्ता इति पदे नञः प्रमज्यप्रतिषेधत्वमिति विधेयत्वमेवोचितम् । यदि न मुक्ता इति स्यात् तर्हि नञः विधेयता प्रतीयेत सा च न प्रतीयते समासात् ।

ननु कुत्र नञः विधेयता प्रतीयते इति आशंकायामुदाहरति—यथेति । नवेति । अयं नवजलधरः नूतनमेषः सन्नद्धः अभ्युदितः, दृप्तः गर्वान् निशाचरः राक्षसो न नहि । इदं समीपस्थं दूराकृष्टं दूरादाकृष्टं कर्णान्ताकृष्टं सुरधनुः इन्द्रधनुः, तस्य राक्षसस्य शरासनं धनुः न नहि । अयं च पटुस्तीव्रः धारासारः वर्षाधाराणां सम्पातः, बाणस्य परम्परा बाणपरम्परा बाणपक्तिः न नहि । कनकस्य

नहीं हैं अर्थात् एक भी नहीं हैं ।” इस वाक्यके अलक्ष्यजन्मता पदमें अलक्ष्य पदार्थ विधेय है वह समासमें गुणीभाव हो जानेसे अप्रधान हो गया अतः काव्य विधेयाविमर्श दोषसे दुष्ट हो गया ।

पदसमासके दोषको कहकर नञ् समासके दोषोंका उदाहरण कहते हैं ।—“हे नाथ ! आपने एक मुहूर्त्तके लिए भी उसे पहले कभी नहीं छोड़ा था ।” इस वाक्यके ‘अमुक्ता’ पदमें नञ्की विधेयता ही ठीक थी किन्तु समासमें गुणीभूत होनेसे वह नष्ट हो गई । नञ्की विधेयता तो निम्नलिखित श्लोकमें प्रतीत हो रही है । “यह नवजलधर (मेष) उमड़ा हुआ है दृप्त निशाचर नहीं हैं । यह दूरसे चढ़ाया हुआ देवधनुष है राक्षसका शरासन (धनुष) नहीं । यह तीव्र घृष्टि है बाणपरम्परा नहीं ।

कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्, प्रिया न ममोर्वशी ॥३६॥ [विक्रमो०]

जुगोपाऽऽत्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ ३७ ॥ [रघुवंशम्]

इत्यत्र तु अत्रस्तताऽऽद्यनुवादेनाऽऽत्मगोपनाऽऽद्येव विधेयमिति न दोषः ।

वाक्यगतो यथा—

न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

निकषः तद्वत् स्निग्धा कनकनिकषस्निग्धा सुवर्णघर्षणस्निग्धा विद्युत् तद्वित्, मम मदीया प्रिया वल्लभा उर्वशी न नहि । अत्र पुरुरवा स्वयमेव शंकते स्वयं चोत्तरयति । अत्र श्लोके सर्वत्र नञः एव विधानात् असमासेन विधेयता च प्रतीयत एव । यत्र समासेन गुणीभावः, न तत्र विधेयतया प्रतीयते इति भवति दोषत्वम् ।

यत्र नञः विधेयता तत्रैव दोषत्वं नान्यत्र इति पक्षसमर्थनाय उदाहरणं प्रदर्शयति—जुगोपेति । स राजा दिलीपः अत्रस्तः निर्भयः सन् आत्मानं स्वं जुगोपररक्ष । अनातुरः सन् अरुणः सन् धर्मं भेजे सिषेव । अगृध्नुः अलुब्धः सन् अर्थान् आददे जप्राह असक्तः असमर्थः सन् सुखमन्वभूत् अनुभवूवेत्यर्थः ।

नन्वेवं यत्र नञः समासस्तत्र न नञः क्रियया सम्बन्धः इति सर्वत्र दोष एव स्यात्, तेन जुगोपात्मानमित्यादि पद्ये अत्रस्तः, अनातुरः इत्यादि स्थलेषु समासात् अस्य दुष्टत्वापत्तिरिति चेन्न; यत्र समासे नञः विधेयता तत्रैव दोषत्वस्य स्वीकारात् । अत्र तु अत्रस्तताद्यनुवादेन आत्मगोपनस्यैव विधानान्नास्य दुष्टता ।

वाक्यगतम् अविमृष्टविधेयांशदोषमुदाहरति—न्यकार इति । हनुमन्नाटके राक्षसक्षयं कुर्वाणं राममभिलक्ष्येयमुक्तिः रावणस्य । अयमेव मे न्यक्कारः तिरस्कारः यदरयः यत् शत्रवः । नतु एकः शत्रुः किन्तु शत्रवः । तत्रापि

सोनेकी रेखाके समान विद्युत् है मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं ।” इस श्लोकमें नञ्की विधेयता स्पष्ट हो रही है । “उस राजा दिलीपनेःभयके विना अपनी रक्षाकी, व्याधिके विना धर्माचरण किया, लोभके विना धन संग्रह किया, अनासक्त होकर सुखोंका अनुभव किया।” इस वाक्यमें नञ्के समास होने पर भी दोष नहीं है क्योंकि अत्रस्तता, अनातुरता, अगर्धा और आसक्तिको उद्देश्य मानकर आत्मगोपन, धर्माचरण, अर्थादान और सुखानुभवका विधान है । नञ्का नहीं । नञ्की विधेयता में ही समास दोषका द्योतक होता है । वाक्यगत विधेयाविमर्श जैसे—“यह मेरा बहुत बड़ा तिरस्कार है कि

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो ! रावणः ।
 धिक् ! धिक् ! शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
 स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ? ॥ ३८ ॥

[हनुमन्ना.]

“अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्” इत्युक्तेरुद्देश्यस्य प्रथमं,
 ततो विधेयस्य निर्देशो युक्तः । अत्र न्यक्कारस्य विधेयत्वे विवक्षितेऽपि
 प्रथमं निर्देशात् न तथा प्रतीतिः । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति
 वाक्यदोषः । यथा वा--

अरीणां सत्त्वेऽपि असौ तापसः तपस्वी मम शत्रुः । साऽपि तापसोपि नातिदूरे
 वसति किन्तु अत्रैव लंकायामेव । नहि भीत इव शान्तस्तिष्ठति किन्तु राक्षसकुलं
 निशाचरकुलं निहन्ति मारयति अहो आश्चर्ये । रावणः रावयति इति रावणः शत्रुभ-
 यदः अयं रावणः जीवति नतु मृतः । शक्रजितं मेघनादं धिक् धिक् प्रबोधितवता
 जागरितेन कुम्भकर्णेन वा किम् किं प्रयोजनं व्यर्थमेव स प्रबुद्धः । स्वर्गः
 एव ग्रामटिका तस्य विलुण्ठनेन वृथा उच्छूनास्तैः स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृ-
 थोच्छूनैः स्वर्गध्वंसनमात्रदृष्टैः एभिः स्वकीयैः भुजैः बाहुभिः किं किं प्रयोजनं, न
 किमपीत्यर्थः ।

अत्र “अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्” इति नियमभंगो “अयमेवेति” उद्दे-
 श्यस्य पूर्वं पाठे तु न दोषः स्यात् । विधेयस्य न्यक्कारपदस्य पूर्वोपादाने तु दोष एव ।
 दोषं संगमयति-अनुवाद्येति । न तथेति । न विधेयता प्रतीतिरिति भावः ।

मेरे भी शत्रु हैं । वे भी तपस्वी और यहीं (लंकामें ही) राक्षसोंका वध कर
 रहे हैं । फिर भी रावण जीवित है । मेघनादको धिक्कार है कुम्भकर्णके जागनेसे ही
 क्या लाभ ? और स्वर्गरूप छोटे गांवको तोड़ने वाली इन उद्दण्ड भुजाओंसे क्या
 प्रयोजन है ।”

इस पद्यमें “उद्देश्य कहकर ही विधेय कहना चाहिए” इस नियमका उल्लंघन
 किया गया है । यदि ‘अयमेव मे न्यक्कारः’ इस प्रकार कहा गया होता तो उद्देश्य वाचक
 ‘अयमेव’ पदका पूर्व प्रयोग होता और विधेय ‘न्यक्कार’ का बादमें प्रयोग होता तो
 दोष न होता । यहाँ तो विधेय न्यक्कारका प्रथम निर्देश किया गया अत एव वह
 विधेय सा नहीं प्रतीत होता । दोनों पदकी रचना विपरीत हुई इस लिए यह वाक्यदोष
 कहा गया है ।

“आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु ! समागतः”

अत्र “असौ” इत्यस्य विधेत्वमेव भवितुं युक्तम् ; तच्च यच्छब्दनि-
कटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

सन्दिग्धत्वं यथा—

“आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु” ।

अत्र वन्द्यामिति वन्दीभूतायाम्, उत वन्दनीयामिति सन्देहः ।

वाक्यमात्रगतान् दोषानाह—

‘वर्णानां प्रतिकूलत्वं सन्धौ विश्लेषकष्टते ।

उदाहरणान्तरमाह—आनन्दयतीति । हे सुभ्रु ! यः समागतः सम्प्राप्तः
असौ ते तव नेत्रे नयने आनन्दयति आनन्दं ददाति ।

अत्र “योऽसौ” इति पठनेन असौ इत्यस्य उद्देश्यतया प्रतीतिर्भवति इति सा
एव दोषः ।

सन्दिग्धत्वं निरूपयति—सन्दिग्धत्वमिति । सन्दिग्धत्वं तु तात्पर्यसंदेहविषयी-
भूतार्थद्वयोपस्थापकत्वम् । उदाहरति—आशीरिति । “आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये
जयश्रिया” इत्युत्तरार्धम् । तत्रभवान् सम्पराये युद्धे जयश्रिया विजयलक्ष्म्या आलि-
ङ्गितः, अतः आशिषः आशीर्वादस्य परम्परां कर्णे कृत्वा श्रुत्वा वन्द्यां हठहतम-
हिलायां कृपां दयां कुरु इत्यर्थः । अत्र अधिकरणे सप्तम्यन्तैकवचनान्तस्य रूपम्,
उत वन्द्यां इति द्वितीयान्तं रूपं येन वन्दनीयामित्यर्थ इति सन्देहः ।

अत्र तात्पर्यस्य संदेहविषयीभूतं यदर्थद्वयं तस्योपस्थापकत्वात् सन्दिग्धत्वं
सुस्पष्टमेव ।

पद-पदांश-वाक्यगतान् दोषानुक्त्वा वाक्यमात्रगतदोषान् विवरीतुं उपक्रामति-

अथवा—“हे सुभ्रु ! जो आया है वह तुम्हारे नेत्रोंको आनन्दित कर रहा है ।”
इस पद्यमें ‘असौ’ यह विधेय है किन्तु ‘यत्’ पदके निकट पड़ जानेसे उद्देश्यकी
तरह जान पड़ता है ।

सन्दिग्धत्व जैसे—“हे राजन् ! आशीर्वादपरम्पराको सुनकर वन्दियोंपर कृपा
कीजिए ।” इस वाक्यमें ‘वन्द्यां’ का वन्दी या वन्दनीय अर्थमें सन्देह हो जाता है ।

वाक्यमात्रमें होने वाले दोषोंको कहते हैं—

वर्णोंका उसके प्रतिकूल होना प्रतिकूलवर्णत्व, सन्धिविश्लेषत्व, सन्धिकष्टत्व, अधि-

अधिकन्यूनकथितपदताऽक्रमता तथा ॥

भग्नप्रक्रमता ख्याति-हतता सङ्करोऽपि च ।

गर्भितत्वं तथा काव्ये दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥'

वर्णानां रसानुगुणत्वं वक्ष्यते, तद्वैपरीत्यं प्रतिकूलत्वम् ।
यथा—'कृतमनुमतम्' (३७ पृ०) इत्यादि पूर्वमुक्तम् । अत्र हि
गाढबन्धत्वं दीर्घसमासत्वञ्च उचितम् । तद्वैपरीत्यकरणात् दोषः ।
सन्धौ विश्लेषः द्विविधः—व्याकरणलक्षणानुसारेण कृतः,
अनुशासनमुल्लङ्घय स्वेच्छया कृतश्च । पूर्वः असकृदेव दोषः, द्वितीयस्तु
सकृदपि ।

वर्णानामिति । वर्णप्रतिकूलता, सन्धिविश्लेषता, सन्धिकष्टता, अधिकपदता, न्यूनप-
दता, कथितपदता, अक्रमता, भग्नप्रक्रमता, ख्यातिहतता, संकीर्णता, गर्भितता एते
दोषाः वाक्यमात्रगा भवन्ति । नत्वेते एव वाक्ये किन्तु एते वाक्ये एवेत्यर्थः । वक्ष्यते
षष्ठसप्तमशिखायामिति भावः । तद्वैपरीत्यं रसानुगुणत्वं प्रतिकूलत्वं । रसानुगुणत्वं
च प्रकृतरसविरोधिरसगतगुणव्यङ्गकत्वेन । उदाहरति—कृतमिति । तद्वैपरान्य-
करणात् । वीररसोचितवर्णवैपरीत्यकरणादित्यर्थः । दोष इति । अत एव अस्य दुष्टता
इति भावः ।

सन्धिविश्लेषतां विभजते—द्विविध इति । अयं भावः—सन्धिविश्लेषः द्विविधः
व्याकरणलक्षणसिद्धः, स्वेच्छाकृतश्च । तत्र व्याकरणलक्षणसिद्धस्तु वारं वारं क्रियमाणः
एव दोषः । स्वेच्छाकृतस्तु एकवारमपि प्रयुक्तो दोषायैव भवति इत्यर्थः ।

कपदता, न्यूनपदता, कथितपदता, अक्रमता, भग्नप्रक्रमता, ख्यातिविरुद्धता, सङ्कर,
और गर्भितत्व ये काव्यके वाक्यमात्रमें होने वाले काव्य दोष हैं ।

रसके अनुकूल वर्णोंकी गणना आगे करेंगे उस नियमके प्रतिकूल होना ही वर्ण
प्रतिकूलत्व दोष है । जैसे—कृतमनुकृतमिति (३८ पृ०) इस पद्यमें वीर रसके उचित
गाढबन्ध दीर्घ समास होना चाहिए था ऐसा न करके छोटे छोटे पद रक्खे गए अतः दोष है ।

सन्धिविश्लेषता दो प्रकारकी होती है—एक व्याकरणसूत्र द्वारा सिद्ध और
दूसरी व्याकरणशास्त्रके नियमोंका उल्लंघन करके अपनी इच्छासे सिद्ध । व्याकरण-
सिद्धान्त से सिद्ध सन्धिविश्लेष बारबार यदि किया जाय तब दोष है किन्तु
व्याकरणके नियमोंका उल्लंघन करके स्वेच्छासिद्ध सन्धिविश्लेष एक बार भी दोषका

आद्यो यथा—

‘दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते’ ।

द्वितीयो यथा—

‘वासवाऽऽशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत् ।’

सन्धौ कष्टता—श्रुतिदुःखाऽऽवहृत्वम् । यथा—

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।

नात्रर्जुयुज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ ३६ ॥

उदाहरति—आद्यो यथेति । हे ! अमलाङ्गि ! शोभनाङ्गि एते ते तव अक्षिणी नयने दलिते विकसिते उत्पले कमले । नान्यदित्यर्थः । अत्र सर्वत्र ईदूदे-द्विवचनं प्रगृह्यम्’ इति सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञा विधानात् न व्याकरणानुसारेण दुष्टता किन्तु सन्धिविश्लेष एव दोषः ।

द्वितीयमुदाहरति—वासवेति । वासवाशामुखे पूर्वस्यां दिशि चन्दनविन्दुवत् चन्दनविन्दुसदृशः इन्दुः चन्द्रः भाति शोभते ।

अत्र ‘भाति इन्दुः’ इत्यत्र दीर्घः उचितः स न कृतः । इति अनुशासनमुलङ्घ्य स्वेच्छया सन्धिविश्लेषः कृतः इति उभयथा दोष एव ।

सन्धिकष्टतां लक्षयति—श्रुतीति । सन्धाविति आदिः । सन्धौ श्रुतिदुःखावहृत्वं सन्धिकष्टत्वमित्यर्थः । उदाहरति—उर्व्यसाविति । अत्र अस्मिन् स्थाने मरोः अन्ते मर्वन्ते मरुप्रदेशे चारु अवस्थितिर्यस्याः सा चार्ववस्थितिः मनोहरावस्थाना असौ पुरो दृश्यमाना उर्वी महती तरुणां वृक्षाणामाली तर्वाली वृक्ष पंक्तिः । वर्तते इति शेषः । अत्र अस्मिन् प्रदेशे ऋजुः यथा स्यात्तथा गन्तुम् अभिगन्तुं न युज्यते न शक्यते इति हेतोः मनाक् ईषत् शिरो नमय शिरो नमयित्वा याहि इत्यर्थः ।

साधक होता है । पहला जैसे—“हे पवित्राङ्गि ! ये तुम्हारे नेत्र विकसित कमल हैं ।” इस पद्यमें ‘दलिते, उत्पले, एते’ आदि पदोंमें व्याकरणसिद्धान्तसिद्ध प्रकृतिभाव है तथापि अनेक पदोंमें विश्लेष होनेसे दोष हैं । दूसरा जैसे—“इन्द्रकी दिशामें (पूर्व दिशामें) चन्दनविन्दुके समान इन्दु शोभा पा रहा है ।” इस पद्यमें “भाति इन्दुः” में दीर्घ होना चाहिए था किन्तु नहीं किया गया अतः यह दोष है ।

सन्धिकष्टता उसे कहते हैं जो सुननेमें कष्ट दे । जैसे—“यह पृथ्वी है यहां घुँघोंकी पंक्ति है, मरुदेशके अन्तमें अच्छा रहने योग्य है । यहां पर सीधे जाना कठिन है अतः

अधिकपदता यथा—‘सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्’ इत्यत्र ‘पिनाकपाणिम्’ इति विशेषणमधिकम् ।

‘कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः’ इत्यत्र तु अतिदुष्प्रधृष्यत्व-सूचनाय ‘पिनाकपाणेः’ इति विशेषणं युक्तमेव ।

न्यूनपदता यथा—‘तथाभूतां दृष्ट्वा’ (२५ पृ०) इत्यादौ पूर्वमुक्ते । अत्र ‘अस्माभिः’ इति ‘खिन्ने’ इत्यस्मात् पूर्वम् ‘इत्थम्’ इति च पदं न्यूनम् ।

कथितपदत्वं यथा—

प्रियं चेत् भरतस्यैतत् रामप्रव्राजनं भवेत् ।

अत्र सर्वत्र उर्व्वसौ, तर्वाली, मर्वन्ते, चार्ववस्थितिः, नात्रजुं इत्यादि पदेषु इको यणचि इति यणुविधानात्, श्रवणकटुता दृश्यते इति सन्धिकष्टत्वमत्रस्फुटमेव इति भावः ।

अधिकपदतामुदाहरति—सदेति । पिनाकपाणिं पिनाकहस्तं सदाशिवं शंकरं नौमि नमस्करोमि । अत्र ‘पिनाकपाणिं’ इति पदाभावेऽपि नमनक्रियायाः सिद्धत्वात् पिनाकपाणिपदमधिकम् ।

नचैवं ‘कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः’ इत्यत्र हरपदकथनेनैवेष्टसिद्धौ पिनाकपाणिपदं व्यर्थमिति वाच्यम् । अत्र अतिदुष्प्रधृष्यत्वबोधनाय पिनाकपाणिपदस्यावश्यकत्वात्, तत्र तु दुष्प्रधृष्यत्वबोधनमफलमेवेति भावः ।

न्यूनपदतामुदाहरति—तथाभूतमिति । अत्र पूर्वोक्ते (२५ पृ०) श्लोके ‘अस्माभिः’ इति खिन्ने इत्यस्मात् प्रथमं इत्थं इति च पदं न्यूनम् ।

कथितपदतामुदाहरति—प्रियमिति । एतत् रामस्यप्रव्राजनं रामप्रव्राजनं

थोड़ा—सा सिर झुका लो ।” इस पद्यमें “उर्व्वसौ” आदि पदोंमें सन्धि कर देनेसे कष्टता प्रतीत होती है अतः दोष है ।

अधिक—पदता जैसे—“जिनके हाथमें पिनाक है उस सदाशिवको प्रणाम करता हूँ ।” यहां पर सदाशिव शब्दसे शिवका ज्ञान हो जाता फिर ‘पिनाकपाणिम्’ कहना अधिक है । “पिनाकपाणि हरके भी धैर्यको दूर कर दूं ।” इस पादमें तो पिनाकपाणि पद हरकी अत्यन्त दुर्धर्षताको बतलानेके लिए प्रयुक्त हुआ है अतः ठीक ही है ।

न्यून—पदता जैसे—“तथाभूतां—” (२५ पृ०) यहां पर ‘अस्माभिः’ तथा खिन्ने इस पदके पूर्व “इत्थम्” पदकी न्यूनता है ।

कथित पदता जैसे—“यदि भरतको यह राम वन गमन प्रिय हो तो भरत भी

मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं कदाचन ॥ ४० ॥ [रामायणे]

अत्र भरत इति पुनः कथितं, सर्वनाम्नैश्च अस्य परामर्शो युक्तः । 'मा स्म मेऽसौ सुतः' इत्यदुष्टम् ।

अक्रमत्वम्—अविद्यमानः क्रमः—पदस्थितिक्रमो यत्र तत् अक्रमम्, तस्य भावः । यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां

समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावत-

स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ४१ ॥ [कुमारस०]

अत्र 'त्वम्' इत्यनन्तरं चकारो युक्तः ।

रामवनगमनं भरतस्य प्रियम् अभिमतं भवेत् चेत् यदि तर्हि मे मम प्रेतकृत्यं प्रेतकार्यं भरतः कदाचन कदाविदपि मा कार्षीत् न कुर्यात् । अनुष्टुप् छन्दः ।

अत्र तृतीयपादे भरतपदमुक्त्वा यदि "मा स्म मेऽसौ सुतः" इति पाठः स्यात् तदा युक्तं स्यात् । अत्र तु पूर्वोक्तमपि भरतपदं सर्वनाम्नाऽनुक्त्वा शब्दतः पठितः इति तस्य दोषत्वम् ।

अक्रमत्वमुदाहरति—द्वयमिति । वटुवेषस्य शिवस्य पार्वतीं प्रति उक्तिरियं—
सम्प्रति अधुना पिनाकिनः शिवस्य समागमस्य प्रार्थना समागमप्रार्थना तथा समागमप्रार्थनया संगमेच्छेया द्वयं शोचनीयस्य भावः शोचनीयता तां शोचनीयतां शोच्यतां गतं प्राप्तम् । सा कान्तिमती कलावती कला अस्य अस्तीति कलावान् तस्य कलावतः चन्द्रमसः कला षोडशो भागः अस्य लोकस्य मर्त्यलोकस्य नेत्रयोः कौमुदीव कौमुदी नेत्रकौमुदी ज्योत्स्नारूपा त्वंच पार्वती चेत्यर्थः ।

अत्र त्वं पदोत्तरं चकारो युक्तः स च लोकस्य इत्यस्यानन्तरं पठितः इति अक्रमत्वं तस्येति दोषना । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

मेरा कभी भी प्रेतकृत्य न करे" इस पद्यमें प्रथम पादमें तथा तृतीय पादमें भरतका नाम लिया गया है यदि सर्वनामसे ही भरतका संकेत किया गया होता तो दोष न होता । जैसे—“यह भी मेरा पुत्र प्रेतकृत्य न करे” इससे भी भरतका ही परामर्श होता और दोष न होता ।

अक्रमत्व उसे कहते हैं जहां पदस्थितिका क्रम न हो । जैसे—“चन्द्रमाकी सुन्दरतम कला और इस लोकके नेत्रोंकी कौमुदी तुम पिनाकीकी प्राप्तिकी इच्छा रखनेके कारण दोनों इस समय सोचनीय दशामें पहुँच गई हो ।” इस पदमें “त्वम्” पदके बाद ही 'च' बाहिय था ऐसा न होनेसे अक्रमता हुई ।

भग्नप्रक्रमता—भग्नः प्रक्रमः—उद्देशानुगुणः प्रस्तावो यस्मिन्
तत् भग्नप्रक्रमम्, तस्य भावः । यथा—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तितुं वा ।

निहत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्गमुपैति लक्ष्मीः ॥ ४२ ॥

अत्र 'सुखलिप्सया वा' इत्यत्र 'सुखमीहितुं वा' इति तुमुन्त-
प्रयोग एव युक्तः ।

ख्यातिहतता—प्रसिद्धित्यागः । मेघोऽऽदीनां गर्जिताद्येव प्रसि-
द्धम्, तदन्यथावर्णने ख्यातिहतत्वम् ।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्करः । यथा—

भग्नप्रक्रमतां विवृणोति—भग्नः नष्टः प्रक्रमः उद्देशानुगुणः उद्देशानुसारि-
प्रस्तावः यस्य तस्य भावस्तत्ता ताम् इत्यर्थः ।

उदाहरति—यश इति । यशः कीर्तिम् अधिगन्तुं प्राप्तुं, सुखस्य लिप्सा
सुखलिप्सा तथा सुखलिप्सया सुखेच्छया वा, मनुष्याणां संख्या तां मनुष्यसंख्यां
जनगणनाम् अतिवर्तितुम् अतिक्रान्तुं वा मनुष्यातिगं कर्म कर्तुमित्यर्थः । निहत्सु-
कानाम् औत्सुक्यरहितानाम् अभियोगं भजन्ति ये ते अभियोगभाजस्तेषामभियोगभा-
जाम् उद्योगिनाम् अंकं क्रोडं लक्ष्मीः श्रीः समुत्सुका इव उत्कण्ठिता इव उपैति
प्राप्नोति । उपजातिवृत्तम् ।

अत्र तुमुन्प्रत्ययान्तेनोपक्रान्तस्य सुखलिप्सया इत्यत्राभावात् प्रक्रमभंगः,
यदि सुखमीहितुं वा इति स्यात् तदा दोषो न स्यात् ।

ख्यातिहततामाह—खेति—ख्यातिः प्रसिद्धिस्तस्या हतता त्यागः प्रसिद्धित्याग
इत्यर्थः । उदाहरणं तु—ततश्चचार समरेशितशूलधरो हरिः । अत्र हरेः शूलधरत्वं लोके

भग्नप्रक्रमता उसे कहते हैं जिसमें उद्देश्य कथनके प्रतिकूल कहा गया हो । जैसे—
“यशःप्राप्तिके, सुखेच्छाके, अथवा मनुष्यगणनासे ऊपर बढ़नेके लिए ही उत्सुकताके
बिना उद्योग करनेवाले मनुष्योंके पास लक्ष्मी स्वयं उत्कण्ठित होकर आती है ।” यहां
‘अधिगन्तुं’ और ‘अतिवर्तितुं’ के मध्यमें ‘सुखलिप्सया’ न लिखकर यदि “सुखमीहितुं”
यह तुमुन्प्रत्यय ही किया गया होता तो ठीक था । ख्यातिहतता कहते हैं
प्रसिद्धि परित्याग को । जैसे मेघोंका गर्जित ही प्रसिद्ध है उसका “बुद्धति” आदि
शब्दोंसे वर्णन करना ख्यातिविरुद्ध है ।

सङ्कर उसे कहते हैं जहां एक वाक्यका पद दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट हुआ हो ।

किमिति न पश्यसि ? कोपं पादगतं बहुगुणमाद्रियस्वैनम् ।

ननु मुञ्च हृदयनाथं सदयं मनसस्तमोरूपम् ॥ ४३ ॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि ? एनं सद-
यमाद्रियस्व, मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेत्यन्वयः । एकवाक्यगतत्वे तु
क्लिष्टत्वमित्यस्माद्धेदः ।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरप्रवेशो गर्भितत्वम् । यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।

कर्तव्यः साधुसंसर्गो न विधेया कदाचन ॥ ४४ ॥

प्रसिद्धम् । अशूलधरस्य शूलधरत्वेन वर्णनं दोषः ।

संकीर्णतामुदाहरति—किमिति । त्वमिति शेषः । त्वं किमिति कस्माद्धेतोः
पादयोः गतं पादगतं पादपतितं बहुगुणं गुणगणशालिनं हृदयनाथं वल्लभं
सदयं दयासहितं न पश्यसि नावलोकयसि । मनसः चेतसः तमोरूपं अन्धकार-
स्वरूपं कोपं क्रोधं मुञ्च परित्यज । पादपतितं पतिं दयादृष्ट्यावलोकयेत्यर्थः । आर्या
वृत्तम् । अत्र अन्वये कृते एव अर्थं प्रतीतिर्नान्यथा ।

ननु यथा अन्वयकाठिन्धं क्लिष्टत्वे दोषजनकं तदेवात्रापि इति किमुभयो
भेदकमिति चेन्न । एकवाक्यगतं यदि स्यात् तदा क्लिष्टत्वं, बहुवाक्यगतं यदा स्यात्
तदा संकीर्णत्वम् । अतः वाक्यान्तरगतपदानां वाक्यान्तरप्रवेशः सङ्कर इति फलितम् ।

गर्भितत्वमुदाहरति—परेति । परेषामपकारे निरतैः परापकारनिरतैः परहा-
निकरैः । दुर्जनैः दुष्टैः सह सार्धं संगतिः सहवासः कदाचन कदाचिदपि न
विधेया न कार्या । साधुभिः संसर्गः साधुसंसर्गः साधुप्रेम च कर्तव्यं विधेयम् ।

जैसे—“अनेक गुणोंसे युक्त पैरों पर गिरे हुए हृदयनाथका दयापूर्वक क्यों नहीं देखती
हो इनका आदर करो और मनमें अन्धकारके समान बैठे हुए कोपको दूर कर दो ।”
यह अर्थ निकालने में कठिनाई पड़ती है । यदि दो वाक्यमें प्रत्येक पद पृथक् पृथक्
होते तो यह दोष न होता । इसमें प्रथम वाक्यके कुछ पद द्वितीय वाक्य तथा द्वितीय
वाक्यके कुछ पद प्रथम वाक्यमें प्रविष्ट हो गए हैं । यदि यह एक वाक्यमें ही उल्टे
पलटे होते तो क्लिष्टत्व दोष होता अतः क्लिष्टत्वसे सङ्कर भिन्न है ।

गर्भितत्व उसे कहते हैं जहां एक वाक्य ही दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट हो । जैसे—
“साधुओंका ही सम्बन्ध करना चाहिए दूसरेके अपकारमें लगे रहने वाले दुर्जनोंके

अत्र तृतीयपादवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टम् ।

अर्थदोषानाह—

‘दुष्क्रमग्राम्यकष्टत्वं व्याहतत्वमहेतुता ।

अनवीकृतता पौनरुक्त्यं ख्यातिविरुद्धता ॥

अनुवादो विधेश्चैवमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ॥’

दुष्क्रमत्वम्—दुः—दुष्टः, विरुद्ध इति यावत् , क्रमः—वचनक्रमो यस्मिन् स दुष्क्रमः । यथा—वसन्ताऽऽदिवर्णने प्रथमं प्रबालोद्गमस्य, ततः कुसुमोत्पत्तेरनन्तरं पुष्पेषु शिलोमुखानाम् आपतनमिति यथाक्रममेवैतेषामाविष्करणमुचितम्, विशिष्टहेतुं विना ततोऽन्यथावर्णने दुष्क्रमतादोषः । एवमन्यत्रापि ।

अनुष्टुप् छन्दः । अत्र तृतीयपादगतं वाक्यं ‘साधुसंसर्गः कर्तव्य’ इति पूर्ववाक्यमध्ये प्रविष्टमिति गर्भितत्वं नाम दोषः ।

पदपदांशवाक्यगतदोषानुक्त्वा क्रमप्राप्तानर्थगतदोषानाह—दुष्क्रमेति । दुष्क्रमत्वं, ग्राम्यत्वं, कष्टत्वं, व्याहतत्वम्, अहेतुत्वं, अनवीकृतत्वम्, पौनरुक्त्यं, ख्यातिविरुद्धत्वं, विध्यनुवादत्वं च अर्थदोषाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः ।

दुष्क्रमत्वं व्युत्पादयति—दुष्क्रमत्वमिति । “प्राग्वाच्य उच्यते पश्चात्पश्चाद्वाच्योऽथवाग्रतः । कविना शक्तिवैकल्याद्योऽर्थस्तं दुष्क्रमं विदुः ॥” इति लक्षणम् । उदाहरणं यथा—
“देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम्” अत्र बहुमूल्यवस्तुनः प्रथमं याचनमुचितं तच्च व्युत्क्रमेण याचितमिति क्रमो दुष्टः ।

साथ कभी भी सङ्ग नहीं करना चाहिए ।” इसमें द्वितीय वाक्यके मध्यमें प्रथम वाक्य प्रविष्ट हो गया है । अतः दुष्ट है ।

अर्थ दोषोंके भेद—

दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, कष्टत्व, व्याहतत्व, अहेतुत्व, अनवीकृतत्व, पौनरुक्त्य, ख्यातिविरुद्धत्व और विध्यनुवादत्व; अर्थके दोष हैं । जिसमें विरुद्धवचनक्रम हो वह दुष्क्रमत्व दोष है । जैसे—वसन्तके वर्णनमें पहिले प्रबालोद्गम, उसके बाद कुसुमकी उत्पत्ति, उसके बाद पुष्पोंपर अमरका आना आदि क्रमका अनुसरण किया जाय तो दोष न हो । विना किसी विशेष कारणके पुष्पोद्गमादि रूपसे विपरीत वर्णन ही दोष है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ।

७ का० दी०

ग्राम्यत्वं यथा—

“ताम्रभृङ्गारतुल्योऽयमर्को मज्जति वारिधौ” ।

कष्टत्वम्—अर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा—

सदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसरसा

सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।

प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥ ४५ ॥

क्रमप्राप्तं ग्राम्यत्वमुदाहरति—ताम्रेति । ताम्रस्य भृङ्गारेण तुल्यस्ताम्रभृङ्गार-
तुल्यः ताम्रकमण्डलुतुल्यः अयं पुरोवर्ती अर्कः सूर्यः वारिधौ समुद्रे मज्जति
व्रुञ्चति इत्यर्थः । अत्रार्थं ग्राम्यत्वम् ।

कष्टत्वं लक्षयति—अर्थेति । व्यवहितत्वं च पदश्रवणानन्तरं अर्थबोधाजनकत्वम् ।
उदाहरति—सदेति । स्वस्य काव्यस्य दोषाभावसामर्थ्याय कस्यचित् कवेः उक्तिः ।
यासां कविरुचीनां काव्यानाम् इति यावत्, अध्ये सदा सर्वदा अमृतनिष्यन्देन सर-
सा अमृतनिष्यन्दसरसा अमृतलाविणी शृङ्गारादिरससहिता च उद्दामा प्रौढा बहु-
मार्गा त्रिमार्गा वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्यादिरीतित्रयवतीति च, सरस्वती वाणी परिमलं
चमत्कारं गन्धं वहति दधाति ता एताः पूर्वोक्ताः महतां महाकवीनां रुचयः अ-
भिप्रायाः घनपरिचिताः अत्यन्ताभ्यस्ताः मेघपरिचिताश्च स्फुरितमधुराः अनुभूत-
प्रियाः । महाकाव्यव्योम्नि महाकाव्यरूपाकारो केन प्रकारेण प्रसादं सुबोधत्वं
यान्तु गच्छन्तु । यासां महाकविरुचीनां मध्ये त्रिमार्गा भारती स्वच्छन्दं चम-
त्कारं वहति तासां गम्भीरकाव्यपरिचिता बुद्धिः कथमन्यत्र तोषं प्राप्नुयात् इति भावः ।

ग्राम्यत्व जैसे—“ताँबाके बड़े कमण्डलुके समान सूर्य समुद्रमें डूब रहा है” इस
वाक्यार्थसे सूर्यकी कमण्डलुसे उपमा देना ही ग्राम्यत्व है ।

कष्टता उसे कहते हैं जहाँ अर्थकी प्रतीतिमें देर होती हो या व्यवधान पड़ता
हो । जैसे—“जिन महाकवियोंकी वाणीके मध्यमें सदा सुधाबरसानेवाली शृङ्गारादि
रसोंसे युक्त सुकुमार, विचित्र, मध्यम त्रिमार्गवाली उद्दामा सरस्वती वाणी चमत्कार
रूप गन्ध लेकर वह रही है । वे कविरुचिरूप महाकाव्य अत्यन्त अभ्यास करने पर
भी मधुर शृङ्गारादि रसोंके स्वाद लेलेने पर भी आकाश स्वरूप महाकाव्यमें कैसे सुबोध
बन सकती हैं । अथवा—जिन सूर्यकिरणोंके मध्यमें सदा सुन्दर रसोंको लेकर वहने
वाली उद्दाम सरस्वती रूपिणी त्रिपथगा गङ्गा सुराङ्गनाओंके अंग संगसे परिमल लेकर
वह रही है, जिसके द्वारा सब पदार्थ दिखाई पड़ रहे हैं, वह सूर्यकी प्रभा महाकाव्यके

तत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारचित्रमध्यमाऽऽत्मकत्रिमार्गा
भारती चमत्कारं वहति, ता गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्
प्रसन्ना भवन्तु ? इत्येकोऽर्थः । यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा
वहति, ता मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्ति ? इति द्वितीयोऽर्थः ।
अर्थद्वयमपि नितरां दुर्बोधम् । शब्दानां परिवर्तनेऽपि कष्टतायास्तादृ-
क्यादयमर्थदोषः ।

कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वा अभिधाय पश्चात् तदन्यथा-
प्रतिपादनं व्याहृतत्वम् । यथा—

हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलाऽऽदयः ।

वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥ ४६ ॥

अत्र येषामिन्दुकला नाऽऽनन्दहेतुः, तेषामेवाऽऽनन्दाय तन्व्यां
चन्द्रिकात्वाऽऽरोपः ।

व्याहृतत्वं लक्षयति—कस्योत । तदन्यथा उत्कर्षमभिधायापकर्षकथनम् ।
एवमपकर्षमभिधायोत्कर्षकथनं विरुद्धकथनम् व्याघातो भवति तदा व्याहृतत्वं दोषः ।
उदाहरति—यथेति । हरन्तीति । यः युवभिः इयं लोकलोचनस्य चन्द्रिका लोक-
लोचनचन्द्रिका तन्वी कृशाङ्गी ललना वीक्ष्यते अवलोक्यते तेषां यूनां हृदयं
नवेन्दुकलादयः नवीनचन्द्रकलादयः न नहि हरन्ति इत्यर्थः ।

अत्रेन्दुकलायाः प्रागपकर्षाभिधानं पश्चान्नायिकाया उत्कर्षार्थं तस्या लोचनयो-
श्चन्द्रकलाकिरणरूपचन्द्रिकात्वमारोपितम् ।

समान आकाशमें मेघसे सम्बद्ध होकर कैसे स्वच्छ होवे ।” यह दोनों अर्थ अत्यन्त
कठिनाईसे प्रतीत होते हैं । शब्दोंके हटानेसे अर्थप्रतीतिमें सरलता नहीं पड़ती,
अतः यहां अर्थ दोष है ।

व्याहृतत्व उसे कहते हैं जहां किसीके उत्कर्ष या अपकर्षको पहले कहकर बादमें
उसके (पूर्व प्रतिपादितके) प्रतिकूल कहा जाय । जैसे—

“जिन नवयुवकोंने लोकलोचनोंके लिये चन्द्रिकाके समान इस नायिकाको देखा
है । उनके हृदयको नवीन चन्द्रमाकी कला भी नहीं खींच सकती ।” यहां पर जिनके लिए
चन्द्रकला आनन्दका कारण नहीं है उनके ही आनन्दके लिए नायिकामें चन्द्रिकाका
आरोप किया गया । इस श्लोकके पूर्वार्द्धसे चन्द्रकलाका अपकर्ष और उत्तरार्द्धसे
उसका उत्कर्ष बताया गया, अतः व्याहृतत्व दोष हुआ ।

अहेतुता— (निर्हेतुता) हेतोरवचनम् । यथा—
गृहीतं येनाऽऽसीः परिभवभयान्नोचितमपि

प्रभावात् यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकात् न तु भयात्

विमोदये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥४७॥ [वेणीसंहार०]

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

अनवीकृतत्वं यथा—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम् ?

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ?

अहेतुत्वं लक्षयति—हेतोरित् । अवचनम् अकथनमित्यर्थः । उदाहरति—
गृहीतमिति । कर्णाय कुप्यतोऽश्वत्थाम्नः शस्त्रं त्यजत इयमुक्तिर्वेणीसंहारनाटके । हे !
शस्त्र ! येन मम पित्रा द्रोणेनेत्यर्थः । त्वं भवान् परिभवस्य भयं तस्मात् परिभव-
भयात् तिरस्कारभीत्या नोचितमपि अनुचितमपि । ब्राह्मणकर्मविरुद्धमपि इत्यर्थः ।
गृहीतं स्वीकृतम् आसीः अभूः यस्य मम पितुः द्रोणस्य प्रभावात् प्रकर्षात् तव
भवतः कश्चित् कोपि विषयः गोचरो न नहि अभूत् अभवत् इति न नहि, अपितु
सर्वोपि तव विषयः अभूदित्यर्थः इति काकुः । तेन द्रोणेन त्वं भवान् सुतस्य शोकं
तस्मात् सुतशोकात् पुत्रशोकात् परित्यक्तः असि, न तु भयात् भीत्या नहीत्यर्थः ।
अहमपि अश्वत्थामापि त्वां भवन्तं विमोदये त्यक्ष्यामि यतः यस्माद्धेतोः भवते
तुभ्यं स्वस्ति कल्याणमित्यर्थः । अत्र पितुः शस्त्रपरित्यागकारणमुक्त्वा स्वकीयशस्त्र-
परित्यागकारणानभिधानमहेतुतादोषप्रस्तमिति भावः ।

अनवीकृतत्वमुदाहरति—प्राप्ता इति । कस्यचिद्वैराग्यवतः उक्तिरियम् । सक-
लकामदुघाः सकलमनोरथसम्पादयित्र्यः श्रियो लक्ष्म्यः प्राप्ता लब्धाः, ततः किं
वृत्तमिति भावः । विद्विषतां शत्रूणां शिरसि पदं दत्तं पादन्यासो विहितः, ततः

अहेतुता उसे कहते हैं जिसमें कारण का उल्लेख न हो । जैसे—“जिन्होंने अनु-
चित होने पर भी परिभवके डरसे अस्त्रग्रहण किया, जिनके प्रभावसे तुम्हारे लिये
कोई अजेय नहीं था, उन्होंने तुम्हें सुतशोकसे त्याग दिया, भयसे नहीं । हे अस्त्र !
मैं भी तुम्हे छोड़ रहा हूँ जिससे तुम्हारा कल्याण होवे ।” यहाँ अपने शस्त्र छोड़नेका
कारण नहीं बताया । अतः अपना अस्त्र छोड़ना निर्हेतुक हो गया ।

अनवीकृतत्व जैसे—“सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली लक्ष्मी मिल गयी तो क्या ?

सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवेस्ततः किम् ?

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥४७॥ [वैराग्यशत०]

अत्र 'ततः किम् ?' इति न नवीकृतम् ।

पौनरुक्त्यं यथा—

अस्त्रज्वाला ऽवलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे

सेनानाथे स्थिते ऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।

कर्णालं सम्भ्रमेण, ब्रज कृप ! समरं, मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्कां

किम् न किमपि महत्फलं प्राप्तमित्यर्थः । विभवेर्धनैः प्रणयिनः अनुरागवन्तः सुहृद्बान्धवाः सन्तर्पिताः सम्यक् तोषिताः ततः किम् । तनुभृतां शरीरधारिणां तनुभिः देहैः कल्पं कल्पपर्यन्तं यदि स्थितं न जीर्णं ततः किम् न किमपि फलमित्यर्थः । अत्र ततः किम् इति न नवीकृतम् । नवीनार्थप्रतिपादकमित्यर्थः । नवीकृतत्वं तत्रैव भवति यत्र पर्यायान्तरेणावृत्तोऽपि शब्दः अन्यं विच्छित्तिविशेषं बोधयति । यत्र च पर्यायान्तरेणावृत्तोऽपि शब्दः तमेवार्थं बोधयति तत्रापि अनवीकृतत्वं दोष एव । नवीकृतत्वं तु गुणः । यत्र तन्न भवति तत्रैव दोषः । पर्यायवाचकपदान्तरसत्त्वे न कथितपदत्वम् । पर्यायवाचकपदान्तरसत्त्वेऽपि विच्छित्तिर्यत्र न प्रतीयते तत्रापि अनवीकृतत्वं दोष एव इति कथितपदत्वाद् अस्य भेदः ।

पौनरुक्त्यमुदाहरति—अस्त्रेति । कौरवदलीयसैन्यपलायनं सम्भवलोक्य अश्वत्थाम्नः उक्तिरियम् । अस्त्राणाम् शस्त्राणां ज्वालाभिः अर्चिभिरवलीढो प्रस्तो यः प्रतिबलजलधिः शत्रुसैन्यसागरस्तस्यान्तरौर्वायमाणे वाडवाग्नाविवाचरति सति, अस्मिन् सर्वधन्वीश्वराणां निखिलधनुर्धराणां गुरौ आचार्ये मम अश्वत्थाम्नः पितरि ताते द्रोणाचार्ये सेनानाथे सेनानायके स्थिते सति हे कर्ण राधेय सम्भ्रमेण भीत्या अलं व्यर्थम् । हे कृपाचार्य ! समरं युद्धस्थलं ब्रज गच्छ, हे हार्दिक्य हृदिकापुत्र कृतवर्मन् इत्यर्थः । शंकां त्रासं मुञ्च त्यज चापं द्वितीयं यस्य तस्मिन् चापद्वितीये चापसहायके ताते पितरि

शत्रुओंके शिरपर पैर रख दिया तो क्या ? याचकोंको धनसे तृप्त किया तो क्या ? मानव-शरीरसे यदि कल्पभर जीते ही रहे तो क्या ?" इस पद्यमें 'ततः किं' पद की झंझी लग गयी है उससे कोई नवीनता नहीं प्रतीत होती है अतः अनवीकृतत्व दोष हुआ ।

पौनरुक्त्य जैसे—अस्त्रोंकी ज्वालासे जलते हुए शत्रुसेनारूप समुद्रके मध्यमें वाडवाग्निके समान, सम्पूर्ण धनुर्धारियोंके गुरु मेरे पिताके सेनापति पदपर रहते हुए हे कर्ण ! भयभीत न होवो । हे कृप ! समरमें चलो, हे हार्दिक्य ? कृतवर्मन् ! शङ्काको

ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः ॥ ४८ ॥
अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

ख्यातिविरुद्धता यथा—

“ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः” ।

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

विधेः—विधेयस्य, अनुवादः—अप्रधान्येन निर्देशः । यथा—
“प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्” इत्यत्र शयितः प्रयत्नेन
बोध्यसे इति विधेयम् ।

द्रोष्टे इत्यर्थः । रणधुरां रणभारं सैन्यापत्यमित्यर्थः । वहति धारयति सति भयस्य भीतेः
कोऽवकाशः न कोपीत्यर्थः । स्रग्धरा वृत्तम् ।

अत्र पद्ये द्वितीयचतुर्थपदयोः समानार्थत्वात् चतुर्थः पादः पुनरुक्त इत्यर्थः ।

ख्यातिविरुद्धतामुदाहरति—तत इति । ततः तदनन्तरं शितशूलधरो हरिः विष्णुः
समरे युद्धस्थले चचार विचचारेत्यर्थः ।

अत्र ‘शितशूलधरो हरिः’ इति पदेन हरेः शूलधरत्वं बोध्यते तच्च लोके शास्त्रेऽपि
अप्रसिद्धमिति ख्यातिविरुद्धत्वं दोषः ।

विध्यनुवादत्वं विवृणोति—विधेरिति । उदाहरति—प्रयत्नेति । अद्य त्वमिति
शेषः । दुर्योधन इति तदर्थः । निशाम् रात्र्याः शेषे प्रभाते इत्यर्थः । स्तुतिभिः वन्दि-
गणपठितैः वाक्यकदम्बैः प्रयत्नप्रतिबोधितः भविष्यसि इति शेषे प्रयत्नेन बोध्यसे
इति तदर्थः । अत्र अस्मत्कृतशत्रुवधजन्यशान्त्या त्वं प्रभाते वन्दिचारणादिकृतप्र-
यत्नेन बोध्यसे इति वक्तव्यमासीत् तच्चाप्रधान्येन निर्दिष्टमिति विध्यनुवादत्वं दोषः ।

छोड़ दो, जब धनुषके साथ पिताजी ही सेनापति पद पर कार्य कर रहे हैं तो भयका
स्थान ही कहां है ।’ इस पद्यमें चतुर्थ पदका वाक्यार्थ पुनरुक्त हो गया है ।

ख्यातिविरुद्धता जैसे—“इसके बाद युद्धस्थलमें तीक्ष्ण शूल लेकर विष्णु
धूमने लगे ।” यहाँ विष्णुको शूलधर कहा गया है जो लोकोंमें अप्रसिद्ध है ।

विध्यनुवादत्व उसे कहते हैं जहाँ विधेयका अप्रधानतया निर्देश किया गया हो,
जैसे—“आज रात्रिशेषमें (प्रातःकालमें) स्तुतिपाठ द्वारा प्रयत्नसे जगोगे ।”
यहाँ सोने पर प्रयत्नसे जगोगे यह कहना था, वह अप्रधानतया कहा गया
अतः दोष हुआ ।

रसदोषानाह—

‘रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ॥

अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ॥

इत्यादिकाः सहृदयैः रसे दोषाः प्रकीर्तिताः ॥’

रसस्य स्वशब्देन—‘रसः’ इति शब्देन हास्यादिशब्देन वा, अभिधानम्, स्थायिनां—हासाऽऽदीनाम्, सञ्चारिणां—निर्वेदादीनाञ्च, स्वनाम्ना कथनं दोषः । प्रतिकूलानां—विरुद्धानाम्, विभावाऽऽदीनां ग्रहः—ग्रहणम् ।

यथा—आदिमे निर्वेदाऽऽदीनां शान्तसञ्चारिणाम्, वीरे च वैव-

पदपदांशवाक्यार्थगतदोषान् क्रमेणोक्त्वा रसगतदोषान् अवसरत आह—
रसस्येति । रसस्य, स्थायिभावस्य, सञ्चारिभावस्य च स्वशब्देन रसादिशब्दे-
नोक्तिः, प्रतिकूलानां विभावादीनां ग्रहः ग्रहणं, पुनः पुनः दीप्तिः रसस्येति
भावः । अकाण्डप्रथनं, अकाण्डच्छेदः, अतिविस्तृताङ्गत्वम्, अङ्गिनोऽननुसन्धानत्वम्, प्र-
कृतिविपर्ययत्वम् इत्यादयश्चार्थानौचित्यादयः दर्पणोक्ताः बोध्याः । सहृदयैः प्राक्तनपुरण-
शालिभिः रसे दोषाः प्रकीर्तिताः उक्ताः । नैते एव दोषाः किन्तु अधिका अपि आक-
रग्रन्थे अवलोकनीया इति इत्यादिपदेनाह ।

हास्यादिशब्देनेति । आदिना शृङ्गारहास्यकरुणसौद्रभयानकवीभत्सवीराङ्गुता-

रसदोषोके भेद—

रसोका स्वशब्दसे कहना, तथा स्थायी और संचारीभावोका भी स्वशब्दसे कहना, प्रतिकूल विभावादिका परिग्रह, पुनः पुनः दीप्ति, अकाण्डप्रथन, अकाण्डच्छेद, अंगविस्तार, अङ्गोका अननुसंधान और प्रकृतिविपर्यय ये सहृदयोके द्वारा रसदोष कहे गये हैं ।

रसका शब्दसे अर्थात् रस शब्द या हास्य, शृंगार शब्दसे कहना, स्थायिभावका हासादिकोका स्वशब्दसे कहना, सञ्चारियोका निर्वेदादिका स्वनामसे कहना, दोष हैं । प्रतिकूल अर्थात् विरुद्ध विभावादिका ग्रहण भी दोष है । जैसे—शृंगारमें निर्वे-

पर्यत्रासाऽऽदीनां भयानकस्यानुभावाऽऽदीनां ग्रहणम् ।

पुनःपुनर्दीप्तिर्यथा—कादम्बर्या महाश्वेताविलापे ।

अकाण्डे—अनुचितेऽवसरे, प्रथमं—प्रकटनम् । यथा—वेण्यां द्वितीयेऽङ्के अनेकवीरसङ्घे प्रवृत्ते दुर्योधनस्य भानुमत्या प्रमोदवर्णनम् ।

अकाण्डे छेदः यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्द्वाराधिरूढे सङ्ग्रामे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तिः ।

अङ्गस्य अतिविस्तृतिः यथा—किरातार्जुनीये सुराङ्गनाविलासाऽऽदिवर्णने ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्राव्याऽऽगमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतयः—दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च, तेषु च धीरोदात्ताऽऽदयः, तत्र यो यथाभूतः, तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः; यथा—रामस्य छद्मना बालिवधः । यथा वा—कुमारसम्भवे अष्टमे उत्तमदैवतयोः

नां रसानां रसशब्देन तत्तन्नाम्नापि निर्देशः दोषायैव । एवं तत्तद्रसस्य ये स्थायि भावाः सञ्चारिभावाश्च सन्ति तेषामपि नाम्ना निर्देशः दोषायैव ।

दादिका जो कि शान्तका सञ्चारी हैं, वीरमें वैवर्ण्यं त्रासादिका और भयानकके अनुभावोंका ग्रहण भी दोष है ।

पुनःपुनर्दीप्ति जैसे—कादम्बरीके महाश्वेता विलापमें ।

अकाण्डप्रथम उसे कहते हैं जहां अकाण्डमें अनुचित अवसर पर प्रकट किया जाता हो । जैसे—वेणी सहाहके द्वितीय अङ्कमें अनेक वीरोंके नाश होनेपर भी भानुमतीके साथ दुर्योधनका प्रमोद वर्णन ।

अकाण्डछेद जैसे—“वीर चरितमें राघव और परशुरामके वाग्युद्धके बढ़ जाने पर “कङ्कण छोड़ने जा रहा हूँ” यह भगवान् राघवकी उक्ति ।

अङ्गविस्तार जैसे—किरातार्जुनीयमें सुराङ्गनाविलासादिका वर्णन ।

अङ्गीका अननुसन्धान जैसे—रत्नावलीके चतुर्थ अङ्कमें वाभ्राव्यके आगमनपर सागरिकाका विस्मरण ।

प्रकृति विपर्यय—प्रकृति तीन प्रकारकी होती है—दिव्या, अदिव्या और दिव्या-दिव्या । इनके भी धीरोदात्तादि अनेक भेद आकर ग्रन्थोंमें लिखे हैं । उनमें जो जिस प्रकार वर्णित है उसके विपरीत वर्णन प्रकृतिविपर्यय कहा गया है । जैसे—‘रामद्वारा कङ्कणसे बालिवध’ अथवा—कुमारसम्भवके अष्टम सर्गमें उत्तमदेव पार्वती और

पार्श्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनम् ।

उक्तानां दोषाणां क्वचिददोषत्वं, क्वचिद्गुणत्वञ्च—

उक्तानां दोषाणां केषाञ्चित् क्वचिददोषत्वं क्वचिद्गुणत्वञ्च तच्च
तत्तद्दोषोत्पत्त्यस्थलेषु पात्राधोभागे द्रष्टव्यम् ।

‘अनुकरणञ्च सर्वेषां दोषाणां स्याददोषतता ।’

यथा—‘प्रलपत्येष वैधेयः स्कन्धस्ते यदि बाधति ।’

एवं सर्वविधदोषानुक्त्वा तत्र शास्त्रवक्त्रादिविशेषे केषाञ्चित् गुणत्वमपि सम्भव-
तीति सूचनायाह—उक्तानामिति ।

अदोषत्वविषयं विवृणोति—अनुकरणञ्चेति । सर्वेषां दोषाणाम् अनुकरणं
अदोषता स्यादिति भावः ।

उदाहरति—प्रलपत्येष इति । एष पुरोदृश्यमानः वैधेयः मूर्खः “स्कन्धस्ते
यदि बाधति” इति प्रलपति । अत्र संस्कारहीनत्वं बाधतीति पदे । अनुकरणकथनत्वात्तु
न दोषता इति सर्वमवदात्तम् ।

केषां दोषाणां कुत्र गुणत्वमिति उच्यते ।

“वक्त्रि क्रोध-संयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ।”

“सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।”

“गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

स्वयं वापि परामर्शं.....”

“.....कथितं च पदं पुनः ।

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।

दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने

अर्थान्तर-संक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।”

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ।”

परमेश्वरका सम्भोगवर्णन । माता-पिताके सम्भोग वर्णनके समान उत्तमदेवोंका
सम्भोगवर्णन निषिद्ध हैं ।

दोष कहीं अदोष और कहीं गुण भी हो जाते हैं ।

उक्त दोषोंमें कुछ दोष कहींपर अदोष और कहींपर गुण बन जाते हैं ।

सब दोषोंका अनुकरण अदोष हो जाता है । जैसे—‘यह मूर्खकह रहा है कि यदि

“वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि । कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा.....”

“.....ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ।”

“कवीनां समये ख्यातो गुणः ख्यातविरुद्धता ।”

“उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुण ।”

“.....गुणः क्वाप्यधिकं पदम् ।”

“गर्भतत्त्वं गुणः कापि.....”

“.....पतत्प्रकर्षता तथा ।”

“संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः ।”

केषां दोषाणां कुत्रादोषत्वमिति उच्यते—

“स्यातामदोषो श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्ते”

“निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति”

“क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।

अनुभावविभावाभ्यां रचनायत्र नोचिता ॥”

“विरोधिनोऽपि स्मरस्यौ साम्येन वचनेऽपि वा ।

भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ॥”

केषांचित् दोषाणां दोषत्वं गुणत्वमपि न भवतीत्याह—

“.....क्वचिन्न दोषो न गुणः”

न्यूनपदत्वमिति शेषः

“समाप्तपुनरातत्त्वं न दोषो न गुणः क्वचित्”

“अत्र विशेषमाह—

“अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥”

मूलग्रन्थे एतेषामकथनात् संक्षेपेणैवात्र निर्दिष्टः । विशेषार्थस्तु गुरुभ्यो बोध्यः ।

कविसमयख्यातानि—

“मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्यते हासकीर्त्योः ।

रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो

ज्योत्स्ना पेया चकोरैः जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥
 पादाघातादशोको विकसति, बकुलं योषितामास्यमथै-
 र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
 मौर्वी रोल्म्बमाला, धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतोः
 भिन्नं स्वादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥
 अहथम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
 मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां, नाप्यशोके फलं स्यात् ।
 न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
 मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥”

बकुलं—मौलश्री इति भाषायाम् । विप्रयोगस्य=वियोगस्य, रोल्म्बमाला-
 भ्रमराः । अम्भोजं—कमलम् । गन्धसारद्रुमाणां—चन्दनवृक्षाणाम् । स्रग्धरावृत्तम् ॥

अत्र ग्रन्थोक्तदोषाणामुदाहरणानां च स्मरणार्थं चक्रम् ।

पदमात्रगता दोषाः—

| | |
|--------------------|-----------------------|
| दोषाः— | उदाहरणानि— |
| निरर्थकत्वम्— | च, वा, ह आदयः |
| असमर्थत्वम्— | कुञ्जं हन्ति कृशोदरी |
| च्युतसंस्कारत्वम्— | गाण्डीवी कनकशिलानिभं- |

पद-वाक्यगताः दोषाः—

तत्र पद गता दोषाः—

| | |
|-----------------------|--|
| दुःश्रवत्वम्— | बन्धुभिः सादरं नैत्रैः । |
| अनुचितार्थत्वम्— | तपस्विभिर्या सुचिरेण । |
| ग्राम्यत्वम्— | किं रुषा शोणितस्यर्द्धी-गङ्गस्ते । |
| निहतार्थत्वम्— | यमुना शम्बरमम्बरं व्यतानीत् । |
| क्लिष्टत्वम्— | क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः । |
| अप्रतीतत्वम्— | योगेन दलिताशयः । |
| विरुद्धमतिकारिता— | उदारचरितो धीमान् सर्वलोक— । |
| अविमृष्टविषैयांशभावः— | वपुर्विरूपाक्षमलद्वयजन्मता । |
| अन्दिग्धत्वम्— | आशीः परम्परां वन्धां कर्णे कृत्वा कृपां— । |

वाक्यगताः यथा—

| | |
|------------------------|---|
| दुःश्रवत्वम्— | सोऽध्यैष्ट वेदान् त्रिदशानयष्ट । |
| अनुचितार्थत्वम्— | कुविन्दस्वंतावदितिः—, टीकायां । |
| ग्राम्यत्वम्— | ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानवः । |
| क्लिष्टत्वम्— | धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं । |
| अविमृष्टविधेयांशत्वम्— | न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः । |

पदांशगता यथा—

| | |
|---------------|-----------------------------------|
| दुःश्रवत्वम्— | तद्गच्छ सिद्धयै कुरु दैवकार्यम् । |
|---------------|-----------------------------------|

वाक्यमात्रगता दोषाः—

| | |
|--------------------|-----------------------------------|
| वर्णप्रतिकूलत्वम्— | कृतमनुमतं वा— |
| सन्धौ विश्लेषः— | { आद्यो यथ—दलिते उत्पले एते । |
| | { द्वितीयो यथा—वासवाशामुखे भाति । |
| सन्धिकष्टता— | उर्व्यसावत्र तर्वाली । |
| अधिकपदत्वम्— | सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् । |
| न्यूनपदत्वम्— | तथाभूतां दृष्ट्वा । |
| कथितपदत्वम्— | प्रियं चेत् भरतस्यैतत् । |
| अक्रमता— | द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम् । |
| भग्नप्रक्रमता— | यशोधिगन्तुं सुखलिप्सयावा । |
| ख्यातिहतता— | मेघगर्जनादिकविरुद्धवर्णनम् । |
| सङ्करः— | किमिति न पश्यसि ? कोपं । |
| गर्भितत्वम्— | परापकारनिरतैर्दुर्जनैः— । |

अर्थदोषाः—

| | |
|---------------|--------------------------------------|
| दुष्कमता— | वसन्ते प्रबालादिक्रमविरुद्धवर्णनम् । |
| ग्राम्यत्वम्— | ताम्रभृङ्गारतुह्योऽयमर्को । |
| कष्टत्वम्— | सदा मध्ये यासामियममृत— । |
| व्याहतत्वम्— | हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः । |
| अहेतुत्वम्— | गृहीतं येनासीः प्ररिभव— । |
| अनवीकृतत्वम्— | प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघाः । |

अत्र बाधतीति दुष्टमप्यनुकरणत्वाददुष्टम् ।

इति दोषविवेचनं नाम पञ्चमशिखा समाप्ता ।

षष्ठशिखा

गुणस्वरूपमाह मम्मटः—

‘ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्याऽऽद्य इवाऽऽत्मनः ।

पौनरुक्त्यम्—

अन्नज्वालाऽवलीढ— ।

ख्यातिविरुद्धता—

ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।

विध्यनुवादत्वम्—

प्रयश्नप्रतिबोधितः स्तुतिभिरथ—।

रसदोषाः—

१ रसशब्दोक्तिः

६ अकाण्डप्रथनम्

२ स्थायिशब्दोक्तिः

७ अकाण्डच्छेदः

३ व्यभिचरिशब्दोक्तिः

८ अज्ञातिविस्तारः

४ प्रतिकूलविभावादिग्रहः

९ अङ्गथननुसन्धानम्

५ पुनःपुनर्दीप्तिः

१० प्रकृतिविपर्ययः

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य-श्रीरामगोविन्दशुक्लरचिते काव्य-

दीपिकामयूखे पञ्चमीशिखा समाप्ता ।

मम्मटभट्टोक्तगुणस्वरूपं लक्षयति—य इति । आत्मनः स्वस्य शौर्याद्य बलवत्त्वादयः इव ये अङ्गिनः मुख्यस्य रसस्य धर्माः सन्ति अचलस्थितयः

तुम्हारा कन्धा दुःखता हो, इस पद्यमें बाधति पद व्याकरण नियमके अनुसार अशुद्ध है (बाधते) होना चाहिए था, किन्तु अनुकरणकर्ताके लिए यह च्युतसंस्कृति दोष नहीं है ।

व्याकरणसाहित्यन्यायाचार्य शिक्षाशास्त्री श्रीरामगोविन्दशुक्लरचित काव्य-दीपिकाकी—किरण नामकी हिन्दीटीकामें पञ्चम शिखा समाप्त ।

मम्मटभट्टोक्त गुणोंके स्वरूप—

जो अङ्गी रसके उत्कर्षको बढ़ानेवाले और सदा उनके साथ रहनेवाले धर्म

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

आत्मन एव हि यथा शौर्याऽऽद्यः, नाऽऽकारस्य, तथा रसस्यैव
माधुर्याऽऽद्यो गुणाः, न वर्णानाम् । अचलस्थितयः—नियतावस्थानाः ।

गुणविभागः—

'माधुर्यौजःप्रसादाऽऽख्यास्त्रयस्ते' समुदीरिताः ।

माधुर्यलक्षणमुक्तं काव्यप्रकाशे—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं' चित्तस्य 'द्रुतिकारणम् ।'

आह्लादकत्वम्—आनन्दजनकत्वम् । द्रुतिः—गलितत्वमिव ।

रसविशेषे हुतेरातिशय्यमाह—

'करुणो विप्रलम्भे तत् शान्ते चातिशयान्वितम् ।' [मम्मटः]

नियतावस्थानाः सन्तस्ते गुणाः उत्कर्षस्य हेतवः उत्कर्षहेतवः उत्कर्षकारणानि
स्युः भवन्ति । स्वयं व्याकरोति—आत्मन इति ।

ते गुणाः कियन्त इत्यपेक्षायामाह—माधुर्यौज इति । माधुर्यं च ओजश्च
प्रसादश्च माधुर्यौजःप्रसादाः, माधुर्य जःप्रसादः आख्या येषां ते माधुर्यौजः-
प्रसादाख्याः माधुर्यौजःप्रसादनामानः, ते गुणाः त्रयस्त्रिसंख्याकाः समीरिताः
कथिताः ।

क्रमशो माधुर्यलक्षणं काव्यप्रकाशोक्तं निर्वक्ति—आह्लादकत्वमिति । आह्लाद-
कत्वम् आनन्दजनकत्वं माधुर्यं माधुर्यपदवाचकं चित्तस्य हृदयस्य द्रुतिः गलितत्वं
द्रुतेः कारणं द्रुतिकारणं चित्तद्रवीभावहेतुः । स्वयं विवृणोति—आह्लादेति ।

कस्मिन् रसे द्रुतेः अतिशयित्वमित्याह—करुण इति । करुणो करुणरसे विप्रल-

हैं, वे गुण कहे जाते हैं । जैसे—शौर्यादि आत्माके उत्कर्षको बढ़ानेवाले होते हैं ।
अतः जैसे शौर्यादि गुण आत्माके गुण हैं आकार (शरीरके) नहीं वैसे माधुर्यादिक
गुण रसके धर्म हैं, वर्णोंके नहीं ।

गुणके तीन भेद—

माधुर्य ओज और प्रसाद तीन प्रकारके गुण होते हैं । चित्तको द्रवीभूत बनाने
[वाले आह्लाद (आनन्द) को माधुर्य कहते हैं । करुण विप्रलम्भ, शृङ्गार तथा शान्त

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वादित्यर्थः ।

रचनायां माधुर्यलक्षणम्—

‘मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टडडान् विना ।

रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ॥’ [विश्वनाथः]

यथा—तदिदं क्रियतामनन्तरं भवतो बन्धुजनप्रयोजनम् ।

विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु ! मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥४६॥

[कुमारस०]

म्मे = विप्रलम्भशृङ्गारे, शान्ते = शान्तरसे च तत् माधुर्यम् अतिशयान्वितम् अत्यन्तं भवतीति शेषः । हेतुं प्रदर्शयति—अत्येति ।

माधुर्यं लक्षयति—मूर्ध्नि इति । मूर्ध्नि शिरसि आदौ वर्गाः कचटतपादयस्तस्य अन्त्यवर्णेन म् म् ङ् ण् न् आदिना टठडडान् विना टठडडान् वर्जयित्वा युक्ताः संयुक्ताः भवन्तु । रणौ रेफणकारौ लघू लघुस्वरोपेतौ च भवतः । ते एव वर्णाः तद्व्यक्तौ कारणतां गताः व्यञ्जकतां गताः सन्ति । तथा अवृत्तिः समासरहितः अल्पवृत्तिः स्वल्पसमासयुक्ता वा रचना निर्मितिः मधुरा भवति इति भावः ।

उदाहरति—तदिदमिति । मदनदहने रतिप्रलापः कुमारसम्भवे । अनन्तरम् = मरणानन्तरम् तदिदं बन्धुजनस्य प्रयोजनं बन्धुजनप्रयोजनं बान्धवजनकृत्यम् भवता त्वया वसन्तेनेत्यर्थः । क्रियताम् सम्पाद्यताम् । किं तदित्यपेक्षायामाह— विधुरां दुःखितां मां रतिं ज्वलनस्यातिसर्जनं तस्मात् ज्वलनातिसर्जनात् अग्निदानात् पत्युः कामस्य अन्तिकं प्रापय गमय ननु निश्चयेन । माम् अग्निदानेन पत्युः समीपं प्रापयेत्यर्थः ।

रसमें चित्तका द्रवीभाव अधिक पाया जाता है । क्योंकि इनमें चित्त अत्यन्त द्रुत हो जाया करता है । माधुर्यका रचनामें निम्नलिखित लक्षण है—

“मूर्ध्निवर्ग अर्थात् आदिवर्ग कवर्ग आदि पांच वर्गोंके अन्तिम-वर्णके सहित तथा ट ठ ड ढ को छोड़कर लघुस्वर युक्त रेफणकार माधुर्यगुणमें कारण होते हैं । इसी प्रकार असमस्त या समासयुक्त रचना मधुर मानी जाती है “जैसे—कुमारसम्भव काव्यके रतिविलापकी एक रचना—

“मरनेके बाद बन्धुजनोंका जो प्रयोजन है, वह आप करें और इस मुझ दुःखियाको अग्निमें फेंककर पतिके पास पहुंचा दें ।”

ओजःस्वरूपं तद्व्यञ्जकं वर्णादिकञ्चाह विश्वनाथः—
 'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
 वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाऽऽधिक्यमस्य तु ॥
 वर्गस्याऽऽद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।
 उपर्यधो द्वयोर्वा स-रेफाष्ट-ठ-ड-ढैः सह ॥
 शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ।
 तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी ॥'

यथा—चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाऽभिघात-

ओजःस्वरूपं विश्वनाथोक्तं वक्ति—ओज इति । चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्व-
 मोज उच्यते । केषु रसेष्वस्य प्राधान्यमित्याह—वीर इति । वीरवीभत्सरौद्रेषु
 वीररसे बीभत्सरसे रौद्ररसे चास्य ओजसः क्रमेण आधिक्यं वृद्धिर्भवति इति भावः ।

व्यञ्जकान् वर्णान् उदाहरति—वर्गति । वर्गस्य कचटतपादेः आद्यतृतीयाभ्यां प्रथ-
 मतृतीयाभ्यां युक्तौ मिलितौ तदन्तिमौ पार्श्ववर्तिनौ खघञ्भठढ-थध-फभौ, उपर्यधः
 शिरसि नीचैर्वा उभयतो वा सरेफः रेफसहितः यथा अकः । अग्रम् । आर्द्रम्
 इति । ठठढढैः सह शकारः तालव्यः षकारः मूर्धन्यः तस्य व्यञ्जकतां गताः व्यञ्ज-
 कत्वं प्राप्ताः । तथा समासेन बहुला औद्धत्यशालिनी घटना च ओजसः व्यञ्जिका
 इति भावः ।

उदाहरति—चञ्चदिति । चञ्चद्भुजां स्फुरद्भ्यां भुजाभ्यां बाहुभ्यां भ्रमिता
 घूर्णिता या चण्डा भीषणा गदा तस्या अभिघातेन आघातेन च्युण्णितं ऊरुयुगलं

ओजका स्वरूप और उसके व्यञ्जक वर्णोंको विश्वनाथने इस प्रकार कहा है—

“चित्तका विस्तार स्वरूप दीप्तत्व ओज कहलाता है । इसकी वीर, बीभत्स और
 रौद्र रसमें अधिकता देखी जाती है । वर्गके प्रथम और तृतीय वर्ण उनके अन्त्य
 अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ अक्षरसे संयुक्त हों, ऊपर नीचे या दोनों स्थानोंपर
 रेफसहित ट ठ ड ढ शकार षकार उसका व्यञ्जक हो तथा बहुसमासवाले पद हों
 और घटना (रचनाका विषय) औद्धत्य गुणसे युक्त हो तो ओज नामका गुण
 कहलाता है । जैसे—

“चञ्चल भुजाओंसे घुमायी गई भयंकर गदाके अभिघातसे सुयोधनकी टूटी हुई

सञ्चूर्णितोरुयुगलम्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-

रुत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि ! भीमः ॥ [वेणीसं०]

प्रसादस्वरूपं तद्व्यञ्जकान् वर्गाश्चाऽऽह स एव—

‘चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥’

यथा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ? ॥४१॥ [रघु०]

यस्य तस्य सुयोधनस्य दुर्योधनस्य स्त्यानं गाढम् अवनद्धं लिप्तं यच्छोणितं रक्तं तेन शोणौ रक्तवर्णौ पाणी यस्य स । भीमः भीमसेनः हे देवि ! द्रौपदि ; तव कचान् केशान् रुत्तंसयिष्यति संयंस्यति । विदीर्णदुर्योधनोरुसृजा तव केशान् भीमः संयंस्यति इति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

प्रसादस्वरूपं निर्वक्ति—चित्तमिति । यः गुणः अनलः अग्निः शुष्केन्धनम् इव चित्तं हृदयं क्षिप्रं भटिति व्याप्नोति स प्रसादः प्रसादाख्यो गुणः सकलेषु सर्वेषु रसेषु रचनासु च भवति । श्रुतिमात्रतः श्रवणमात्रतः अर्थस्य बोधकाः अर्थबोधकाः शब्दाः तद्व्यञ्जका प्रसादव्यञ्जकाः कथिता इति भावः ।

उदाहरति—गृहिणीति । हे ! प्रिये करुणाविमुखेन करुणारहितेन मृत्युना त्वाम् इन्दुमतीं हरता सता गृहणी गृहस्वामिनी सचिवः इष्टोपदेश मन्त्रीत्यर्थः । मिथः एकान्ते सखी सहचारिणी । ललिते मनोहरे कलाविधौ नृत्यगीतादिव्यापारे प्रियशिष्या वद ब्रूहि मे मम अजस्य किं न हृतम् अपहृतम् । सर्वमेव हृतमित्यर्थः ।

दोनों जङ्घाओंके गाढ़े रक्तसे हाथ रंगकर हे देवि द्रौपदी ! भीम तुम्हारे केशोंको बाँधेगा । यह भीमसेनकी द्रौपदीके सम्मुख की गई प्रतिज्ञा है ।

प्रसादगुणके स्वरूप और उसके व्यञ्जक वर्ण कहते हैं ।

जैसे—शुष्क इन्धनमें अग्निदेव शीघ्रतासे व्याप्त हो जाते हैं उसी प्रकार यदि अर्थ चित्तमें बैठ जाया करे तो वह समस्तरस और रचनामें प्रसाद नामसे कहा जाता है । वे ही शब्द उसके व्यञ्जक हैं जो श्रवणमात्रसे अर्थबोध करा देते हैं । जैसे—

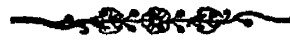
खी, मन्त्री, एकान्तमित्र, ललितकलामें प्रियाशिष्यारूप तुम्हारा हरण करते हुए करुणा विमुख मृत्युने मेरा क्या नहीं हर लिया अर्थात् सर्वस्व हर लिया ।

इत्यादिकं कालिदासग्रन्थेषु रामायणे च बाहुल्येन द्रष्टव्यम् ।

‘एषां शब्दगुणत्वञ्च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।’

गुणवृत्त्या—परम्परया ।

इति गुणविवेको नाम षष्ठशिखा ।



सप्तमशिखा

रीतिस्वरूपं तद्भेदांशाऽऽह—

‘अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।’

प्रसादगुणस्य उदाहरणान्तरज्ञानाय ग्रन्थान्निर्दिशति—कालिदासग्रन्थेषु इति ।
गुणानां नामान्तरं वक्ति—एषामिति । एषां माधुर्यादीनां शब्दगुणत्वं शब्द-
वृत्तित्वं बुधैः विद्वद्भिः गुणवृत्त्या गौणव्यापारतया परम्परया इत्यर्थः । उच्यते कथ्यते ।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्य शिक्षाशास्त्रि श्रीरामगोविन्दशुक्ल
रचितकाव्यदीपिकामयूखे षष्ठीशिखा समाप्ता ।

यद्यपि उद्देश्यक्रमतः अलङ्कारनिरूपणमेव प्रथमतः युक्तं तथापि अलङ्कारे
बहुवक्तव्यतया सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं स्वल्पप्रतिपाद्यतया रीतिनिरूपणमेव करोति—
अस्त्येति । यद्यपि परस्परं सूक्ष्मभेदः गिरां वाणीनां भेदः अनेकः बहु अस्ति तत्र
भेदेषु प्रस्फुटान्तरौ व्यक्तभेदौ वैदर्भीगौडीयौ वैदर्भी गौडी भेदौ वर्ण्येते ।

इसी प्रकार कालिदासके ग्रन्थोंमें रामायणमें भी बहुधा देखा जा सकता है ।
विद्वान् लोग इन्हींको परम्परया शब्दवृत्ति भी कहते हैं ।

इति न्याय व्याकरण—साहित्याचार्य शिक्षाशास्त्री श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचित
काव्यदीपिकाकी किरण नामक हिन्दी टीकामें छठी शिखा समाप्त ।

रीतिका स्वरूप और उसके भेद इस प्रकार हैं—

यद्यपि वाणीके पारस्परिक सूक्ष्मभेदोंके अनेकमार्ग हैं, तथापि उनमेंसे वैदर्भी
और गौडीके जिनके भेद अत्यन्त स्फुट हैं, उन्हींके विषयमें कहता हूँ ।

तत्र वैदर्भगौणीयो वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥' [दण्डी]

प्रस्फुटान्तरौ—स्फुटप्रतीयमानभेदौ । मार्गः—रीतिः, सा च पद-
विन्यासप्रणालीरूपा । यथाऽऽह विश्वनाथः—

‘पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।’

वैदर्भीस्वरूपमाह स एव—

‘माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललिताऽऽत्मिका ॥’

‘अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥’

ललिताऽऽत्मिका—मधुरस्वरूपा, वृत्तिः—समासः । यथा—‘तदिदं
क्रियताम्’ इत्यादि (१११ पृष्ठे) पूर्वमुक्तम् ।

गौडीस्वरूपमाह—

‘ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।

रीतेः स्वरूपमाह—पदेति । पदसंघटना रीतिः । पदबन्धो रीतिः मार्गः । अङ्गसं-
स्थाविशेषवत् अङ्गसंस्थानमिवेत्यर्थः । यथा अङ्गसंस्थानं मनुष्यस्य शोभाधायकं तथैव
पदविन्यासः काव्यस्य शोभाधायक इत्यर्थः ।

रीतिभेदयोर्मध्ये प्रथमस्य वैदर्भीभेदस्य स्वरूपं लक्षयति—माधुर्येति । माधुर्यस्य
व्यञ्जकैः माधुर्यप्रसाधकैः वर्णैः ललितात्मिका मधुरस्वरूपा रचना कृतिः वैदर्भी रीतिः
इष्यते कथ्यते । सा च अवृत्तिः समासरहिता अल्पवृत्तिः स्वल्पसमासयुक्ता वा भवति ।
उदाहरति—तदिदमिति । (१११ पृष्ठे)

प्रस्फुटान्तरौ = स्पष्टभेदकी प्रतीति होती है । मार्गः = रीति, सा च = वह रीति
पदके विन्यास रचना परिपाटीरूपमें है । जैसा कि विश्वनाथजीने कहा है—

जैसे मनुष्यके शरीरमें अङ्गोंकी स्थिति होती है, वैसे काव्यमें पदसंघटनाको रीति
कहते हैं ।

वैदर्भीका स्वरूप उन्होंने ही कहा है—

माधुर्यव्यञ्जकवर्णोंसे जो रचना ललित हो, समास रहित या छोटे छोटे समासोंसे
युक्त हो; उसे वैदर्भी रीति कहते हैं ।

ललितात्मिका = मधुरस्वरूपवाली, वृत्ति = समासः । जैसे—“तदिदं” इत्यादि
(पृष्ठ १११)

गौडीरीतिका स्वरूप इस प्रकार है ।

ओजको प्रकाशित करनेवाले कठोरवर्णोंसे बने हुए अधिक बड़े बड़े समस्तपदोंसे ।

समासबहुला गौडी' दर्पणे समुदीरिता ॥

बन्धः—रचना । आडम्बरः—गाढः । यथा—'चञ्चद्भुजभ्रमित'
इत्यादि (११२ पृष्ठे) पूर्वमुक्तम् ।

इति रीतिविवेचनं नाम सप्तमशिखा ।

~*~*~

अष्टमशिखा

अलङ्कारस्वरूपमाह—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।' [दण्डी]

अलङ्कारविभागः—

ते च द्विविधाः—शब्दगताः अर्थगताश्च ।

उद्देश्यक्रमतः गौडीस्वरूपं निर्वक्ति—ओज इति । ओजः साभिप्रायत्वम् तस्य
प्रकाशकैर्व्यञ्जकैर्वर्णैः आडम्बरः उद्भटः बन्धः रचना पुनः अपि च समासबहुला समा-
साधिका च गौडीवृत्तिः दर्पणे साहित्यदर्पणे इत्यर्थः । समुदीरिता कथिता । उदा-
हरणमाह—चञ्चदिति । (११२ पृष्ठे)

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य-शिक्षाशास्त्रि-श्रीरामगोविन्दशुक्ल-
रचिते काव्यदीपिकामयूखे सप्तमीशिखा समाप्ता ।

~*~*~

क्रमप्राप्तानलङ्कारान् निरूपयितुं प्रथममलङ्कारस्वरूपलक्षणमाह—काव्येति ।
काव्यस्य गद्यपद्यात्मकस्य शोभाकरानुत्कर्षबोधकान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते कथयन्ति ।
तत्र शब्दगतत्वेन अर्थगतत्वेन च अलङ्कारान् विभजते— ते चेति ।

युक्त आडम्बर (उद्भटबन्धो) को गौडी रीति कहते हैं । बन्धः = रचना । आडम्बरः =
गाढ । जैसे—“चञ्चद्भुज” (पृष्ठ ११२ का पद्य)

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य-शिक्षाशास्त्री-श्रीरामगोविन्दशुक्ल-
रचित काव्यदीपिकाकी किरणनामकी टीकामें सप्तमशिखा समाप्त ।

~*~*~

अलङ्कारस्वरूप—काव्यकी शोभा-बढ़ानेवाले धर्मको अलङ्कार कहते हैं ।
अलङ्कारके भेद—वे दो प्रकारके होते हैं—एक शब्दगत और दूसरा अर्थगत ।

अथ शब्दालङ्काराः—

शब्दगताः—अनुप्रासयमकाऽऽद्यः ।

तत्र अनुप्रासः ।

‘अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।’ [विश्वनाथः]

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनमात्रसादृश्यम् अनुप्रासः । स च रसानु-
गुणो वर्णानां प्रकर्षेण न्यासः । यथा—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्

रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥५२॥

[विश्वनाथः]

तत्र शब्दगताः अलङ्काराः के इत्यपेक्षायामाह—अनुप्रासेति ।

अर्थापेक्षया शब्दस्यैव प्रथमोपस्थिततया प्रथमं शब्दालङ्कारमाह—अनुप्रास इति । स्वरस्य वैषम्येऽपि स्वरस्य विसदृशत्वेऽपि यत् शब्दसाम्यं व्यञ्जनसादृश्यं सोऽनुप्रासः । एतदेवाह—स्वरेति । अनुगतः प्रासो न्यास अनुप्रासः एतदेव स्फुटयति—स चेति । उदाहरति—यथेति । मरुत् वायुः लतायाः कुञ्जं लताकुञ्जं लतागृहम् गुञ्जन् गुञ्जयन् मदवन्तो ये अलयो भ्रमरास्तेषां पुञ्जं समूहं चपलयन् चालयन् अंगं शरीरं समालिङ्गन् स्पृशन् अनङ्गं कामवासनां द्रुततरं भ्रुतिप्रबलयन् वर्धयन्, दलितं विकसितम् अरविन्दं कमलं मन्दं मन्दं शनैः शनैः तरलयन् चञ्चलयन् रजोवृन्दं परागपटलं विन्दन् गृह्णन् दिशि दिशि प्रतिदिशं मकरन्दं पुष्परसं किरति क्षिपति ।

अत्र प्रथमपादे जं, जं, द्वितीय पादे ङं ङं तृतीये तथा चतुर्थे पादे न्दं न्दं इति व्यञ्जनसङ्घानां पुनः पुनरावृत्तिरिति स्वरस्य वैषम्येऽपि व्यञ्जनमात्रसाम्यादनुप्रासः । अत्र शिखरिणी वृत्तम् ।

शब्दगत अलङ्कार—शब्दगत अलङ्कार जसे—अनुप्रास, यमक आदि ।

अनुप्रास—स्वरोंकी विषमता रहने पर भी शब्दकी समानताको अनुप्रास कहते हैं । स्वरोंके विसदृश अर्थात् असमान होनेपर भी व्यञ्जन मात्र की समानता अनुप्रास है । वह रसानुगत वर्णोंका प्रकर्षपूर्वक न्यास अनुप्रास शब्दार्थ है । उदाहरण जैसे—

“लताके कुञ्जको गुञ्जरित, मदमत्तभ्रमरोंको चपल, अङ्गोंसे आलिङ्गन करता हुआ, कामदेवको प्रबल बनाता हुआ, विकसित कमलोंको चञ्चल बनाता हुआ, रजोवृन्दको ग्रहण करता हुआ यह मन्दमन्द चलनेवाला पवन पुष्परसको दिशाओंमें बिखेर रहा है।”

यमकम् —

‘सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।

क्रमेण तेनैवाऽऽवृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥’ [विश्वनाथः]

अत्र द्वयोरपि वर्णसङ्घातयोः क्वचित् सार्थकत्वं, क्वचिन्निरर्थकत्वं, क्वचिदेकस्य सार्थकत्वम् अपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तं ‘सत्यर्थे’ इति । तेनैव क्रमेणेति ‘दमो मोदः’ इत्यादेर्विविक्तविषयत्वम् । एतच्च पदपादाऽऽद्यावृत्तित्वेन प्रभूततममेदम् । दिङ्मात्रम् उदाह्रियते—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।

मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥५३॥ [माघः]

यमकालङ्कारं लक्षयति—सत्यर्थे इति । अर्थे विद्यमाने सति पृथक् पृथक् अर्थो यस्यास्तस्याः पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः समुदायस्य तेनैव क्रमेण पूर्वक्रमेणावृत्तिः यमकं विनिगद्यते उच्यते । अथ यमकालङ्कारे द्वयोरपि वर्णसङ्घातयोः क्वचित् सार्थकत्वम् क्वचिन्निरर्थकत्वम्, क्वचिच्च विपरीतम् । दिङ्मात्रम्=दिग्दर्शनरूपमुदाह्रियते । नवेति सः कृष्णः पुरः—नवाः पलाशाः पत्राणि यस्मिन् तन्नवपलाशम्, तच्च पलाशवनञ्चेति तं नवपलाशपलाशवनम् । स्फुटैः व्यक्तैः परागै रजोभिः परागतानि व्याप्तानि पङ्कजानि यत्र तम् । मृदुलाः कोमलाः तान्ता म्लानाः लतान्ताः यत्र तम्, सुमनांसि पुष्पाणि तेषां भराः समुदायास्तैः सुमनोभरैः सुरभिं सुगन्धिव्याप्तं सुरभिं वसन्तर्तुम् अलोकयत् आलुलोके । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

यमक—अर्थवान् तथा परस्पर भिन्नार्थक स्वरव्यञ्जन समूहकी उसी क्रमसे आवृत्तिको यमक कहते हैं ।

इस यमक नामक अलङ्कारमें दोनों वर्ण संघातको कहीं सार्थक, कहीं निरर्थक, कहीं एक देशको सार्थक और कहीं दूसरेको निरर्थक माना गया है । इसीलिए “सत्यर्थे” यह कहा है ।” उसी क्रमसे “दमो मोदः” इसे यमक नहीं कहते । यह पद वृत्ति पादादि वृत्ति भेदसे अनेक प्रकारका होता है । केवल एक उदाहरण जैसे—“उसने नवीनपत्तोंसे युक्त पलाशवनको, व्यक्त पुष्परजसे व्याप्त कमलको, कोमल और कुम्हलाएँ ह्रस्व लतासमुदायको, सुमन (पुष्प) के समूहसे सुरभित वसन्तको सम्मुख देखा”

प्रथम पादे द्वयोरपि द्वितीये प्रथमस्यैव, तृतीये च द्वितीयस्यैव सार्थकत्वम्, चतुर्थे द्वयोरपि 'रभिसु' इत्येतयोर्निरर्थकत्वम् ।

श्लेषः—

'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।' [विश्वनाथः]

स च वर्णप्रत्ययप्रकृतिपदाऽऽदिश्लेषात् बहुविधः । यथा—
प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।

अवलम्बनाय दिनभर्तृरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥५४॥ [म.घ.]

अत्र प्रथमे पादे द्वयोः पलाशपदयोः सार्थकत्वम् । द्वितीये पादे प्रथमस्य परागे-
त्यस्य सार्थकत्वं द्वितीयस्य परागतपदघटितस्य परागेत्यस्य निरर्थकत्वं तृतीये प्रथमस्य
लतान्तेत्यस्य निरर्थकत्वं द्वितीयस्य च सार्थकत्वम् । चतुर्थे पादे 'रभिसु रभिसु' इत्यु-
भयोर्निरर्थकत्वम् ।

श्लेषं लक्षयति—श्लिष्टैरिति । श्लिष्टैः अनेकार्थालिङ्गितैः पदैः वर्णसमूहैः अने-
कार्थस्याभिधाने कथने श्लेषः श्लेषालङ्कार उच्यते कथ्यते ।

श्लेषं विभजते—स चेति । पदादीति आदिना लिङ्गभाषाविभक्तिवचनानां
ग्रहणम् । बहुविधः अष्टविध इत्यर्थः ।

दिङ्मात्रमुदाहरति—प्रतीति । विधौ भाग्ये प्रतिकूलतां विमुखताम् उपगते
प्राप्ते सति बहुसाधनता बहुपायता विफलत्वमेति गच्छति । दृष्टान्तमाह—
पतिष्यतः अस्तं गच्छतः दिनभर्तुः सूर्यस्य करसहस्रमपि किरणरूपकरसह-
स्रमपि अवलम्बनाय रक्षणाय न अभूत् न जातम् । इत्येकोऽर्थः । द्वितीयस्तु
विधौ चन्द्रमसि प्रतिकूलतां विमुखतां (पृष्ठे चन्द्रे धनक्षयः इति ज्योतिर्विद्वचनात् ।)
उपगते प्राप्ते सति करसहस्रं=राजदेयभागसहस्रमपि इति शेषं पूर्ववत् । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

प्रथम पादमें पलाश, पलाश दोनों पदोंकी द्वितीय पादमें पराग पराग प्रथम पदकी
तृतीय पादमें लतान्त, ललान्त द्वितीय पदकी, सार्थकता, एवं चतुर्थ पादमें रभिसु,
रभिसु, दोनो पदों की निरर्थकता है ।

श्लेष युक्त पदोंसे अनेक अर्थोंका कथन श्लेषालङ्कार कहा जाता है । वह वर्ण,
प्रत्यय, प्रकृति, पद श्लेष आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है । जैसे—

“विधु चन्द्रमा या भाग्यके प्रतिकूल होने से अनेक साधनभी व्यर्थ हो जाते हैं ।
सायंकाल अस्त होनेके समयमें गिरते हुए सूर्यको बचानेके लिए उनके एकसहस्र हाथ
सहायक न होसके ।”

अत्र 'विधौ' इत्यत्र विधिशब्दयोःकारेकारयोर्वर्णयोरौकाररूपत्वात्
वर्णश्लेषः । 'कर' इत्यत्र प्रकृतिश्लेषोऽपि ।

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ ५५ ॥

अत्र पदश्लेषः ।

अथ "विधौ" इत्यस्मिन् पदे विधु विधि शब्दयोः सप्तम्यैकवचने एकसदृशरूप-
त्वादर्थद्वयस्य प्रतिपादकत्वमिति वर्णश्लेषः ।

पदश्लेषमुदाहरति—पृथ्विति । राजानं प्रति कस्यापि याचकस्योक्तिः । देव !
राजन् सम्प्रति अधुना पृथूनि विपुलानि कार्तस्वरं सुवर्णं तस्य पात्राणि भाजनानि
यत्र तत् पृथुकार्तस्वरपात्रम् । याचकपक्षे—पृथुकानां बालानामार्तस्वरस्य बुभुक्षाज-
नितस्य क्रन्दनस्य पात्रं स्थानम् । भूषिता अलंकृताः निशेषाः सम्पूर्णाः परिजनाः
बन्धुबान्धवा यत्र तत् । याचकपक्षे—भुवि उषिता कृतनिवासा निःशेषाः सर्वे परिजनाः
बन्धुबान्धवा यत्र तत् । विलसन्ती शोभमाना या करेणुः बालकरिणी तथा गहनं
दुष्प्रवेशम् । याचकपक्षे—विलेषु सीदन्तीति विलसत्काः मूषकाः तेषां रेणुवः
धूलयस्तैः गहनं व्याप्तम् । आवयोः मम भवतश्च सदनं गृहं समम्
समानम् । आर्या वृत्तम् ।

अत्र पदश्लेषः । भवतां राज्ये वयं क्षीणाः भवन्तश्च ऐश्वर्यभोक्तारः न प्रजा-
पालका इति व्यज्यते ।

इस श्लोकमें "विधौ" इस पदमें विधु और विधिशब्दोंमें उकार और इकार वर्णोंके
स्थानमें औकार रूप हो जानेसे वर्ण श्लेष हैं । करसहस्र पदके करपदका हस्त और
किरण रूप अर्थ है, अतः प्रकृतिश्लेष भी है ।

"हे देव ! पुष्टसुवर्णकेपात्र, भूषणसे भूषित समस्त परिजन, शोभमानहस्ति
समूहोंसे व्याप्त आपका सदन (गृह) बच्चोंके आर्तस्वरका पात्र, भूमिपर सोने
वाले सकलपरिजन, सेकड़ों बिलके रेणुसे युक्त मेरे गृहके समान है अतः मेरा और
आपका गृह समान है । अर्थात् दोनों की उपमा एकसी है ।"

इस कवितामें 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' आदि पदोंमें ही श्लेष है अतः यह पद श्लेषका
उदाहरण है ।

मनोरजनके साथ अपनी दीनताका वर्णन करने वाला व्यक्ति 'अवश्य दयाका
पात्र हुआ होगा ।

अथ अर्थालङ्काराः—

अर्थालङ्काराः—स्वभावोक्तिरुपमाऽऽदयश्च । तत्र स्वभावोक्तेर्वस्तु-
स्वभाववर्णनस्वरूपत्वात् स्वभाववर्णनञ्च वस्तूनां प्रकृतञ्चेत् तद्वस्तूनि
प्रत्यक्षमिदं दर्शयित्वा सहृदयमनांसि नितरामाकर्षतीति तस्या अतीव
चमत्कारित्वात् तामेव प्रथममाह—

स्वभावोक्तिः—

‘स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ॥’

यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः

पश्चाद्भेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम् ।

शष्पैरद्भ्रवलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्म

शब्दालङ्कारान्निरूप्यार्थालङ्कारान् लक्षयितुमुदाहर्तुं चारभते—अथेति । के च ते
इत्यपेक्षायामाह—स्वभावोक्तिरित्यादि ।

स्वभावोक्तेरेव प्राथमिकत्वे युक्तिमाह—तत्रेति ।

स्वभावोक्तिं लक्षयति—स्वभावोक्तिरिति । चारु चमत्कारातिशयबोधकत्वेन
रूपेण यथावत् वस्तुस्वभावानुगुणं वस्तुवर्णनम् असौ स्वभावोक्तिरलंकार इत्यर्थः ।

उदाहरति—अथेति । शाकुन्तले नृपः स्वसूतं सम्बोध्य ब्रूते । ग्रीवायाः भङ्गस्ते-
नाभिरामस्तं ग्रीवाभङ्गाभिरामम् ग्रीवापरिवर्तनमनोज्ञम् यथास्यात्तथा मुहुः वेगेन
अनुपतति अनुधावतीत्यर्थः स्यन्दने रथे दत्ता दृष्टिर्येन स कृतनेत्रः । शरस्य
बाणस्य पतनाद्भयं तस्मात् बाणपातशंकया पश्चाद्भेन भूयसा बाहुल्येन पूर्वका-
यम् कायस्य पूर्वार्धं प्रविष्ट इव । अधम् अद्भ्रवलीढं चर्वितं येषां तैः अर्धभक्षितैः
शष्पैः घासैः श्रमेण विवृतं यत् मुखम् आस्यं तस्माद्भ्रंशिभिः पतनशीलैः कोर्ण

अथ अर्थालङ्कार कहते हैं—

स्वभावोक्ति और उपमा आदि अर्थालङ्कार हैं । इन अलङ्कारोंमें स्वभावोक्ति
वस्तुस्वभाव वर्णनात्मक है । प्रकरण प्राप्त वस्तुओंकी स्वाभाविकताका वर्णन उस
वस्तुको प्रत्यक्ष-सा कर देता है और सहृदयोंके हृदयको अत्यन्त आकृष्ट करता है अतः
एव वह अत्यन्त चमत्कारी होता है अतः उसे ही सर्वप्रथम कहा जा रहा है ।

अतिशय चमत्कारके साथ वस्तुओंका यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा
जाता है । जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमें—

ग्रीवा मोड़नेसे सुन्दर, पीछे जाते हुए रथपर बार बार दृष्टि लगाया हुआ, बाणके
गिरनेके भयसे शरीरका पिछला भाग पूर्वकायमें अधिक प्रविष्ट-सा, अर्ध भाँचित

पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति ॥५६॥
 यथा वा—तत्रैव पञ्चमाङ्गादौ कञ्चुकिनो जरावर्णनम् । तत्रैव च
 सप्तमे नृपशिरोः सिंहशावकाऽऽस्कन्दनविक्रान्तिर्णनम् ।
 उपमास्वरूपमुक्तमादर्श—

उपमा—

‘प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते ।’

वर्त्मा व्याप्तमार्गः उदग्रप्लुतत्वात् बहुप्लुत्यगमनात् वियति आकाशे बहु-
 तरमुर्व्या स्तोकं स्वल्पं प्रयाति गच्छति इति पश्यावलोकय । स्रग्धरा वृत्तम् ।

उदाहरणान्तरं दर्शनायाह—यथा वेति । जरावर्णनमिति यथा—कञ्चुकी-
 अहो नु खड्गीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयाष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ॥

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्रमवगतेरवलम्बनाय ।

या वेत्रयाष्टिः आचारः समुदाचारः इत्यवहितेन मया कञ्चुकिना राज्ञः
 अवरोधगृहेषु अन्तःपुरेषु गृहीता अवलम्बिता सैव बहुतिथे काले गते सति
 प्रस्थानेन विक्रमवगतिर्यस्य तस्य मम अवलम्बनाय जाता अभूत् ।

शाकुन्तलीयं स्वभावोक्तेस्तृतीयमुदाहरणान्तरमाह—सप्तमे इति । राजा—
 कोऽयमबालसत्त्वो बालः—

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेशरम् । प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥

मातुः सिंहिन्याः अर्धपीतं स्तनं येन स तं आमर्देन क्लिष्टं केशरं यस्य स
 तम् सिंहशिशुं बालं प्रक्रीडितुं बलात्कारेण कर्षति य स बालक इति उप-
 रितनेन वाक्येन सम्बन्धः—बालः जृम्भस्व सिंह जृम्भस्व । दन्ताँस्ते गणयिष्यामि । इति

आदर्शं काव्यादर्शं इत्यर्थः । उपमालङ्कारं लक्षयति—प्रस्फुटेति । वैचित्र्यजनकं
 प्रस्फुटं साम्यम् उपमा ।

परिश्रमसे खुले हुए मुखसे गिरते हुए घास मार्ग पर गिराता हुआ अधिक क्रुदनेके
 कारण आकाशमें अधिक और भूमिमें थोड़ा सा यह मृग दौड़ रहा है, इसे देखो ।

अथवा—उसी ग्रन्थमें पञ्चम अंकके आदिमें कञ्चुकीकी जरावस्थाका वर्णन, उसीके
 सप्तम अंकमें राजपुत्र भरतका सिंह शिशुको पकड़ना आदि स्वाभाविकताका वर्णन
 इस अलङ्कारका उदाहरण है ।

उपमाका स्वरूप आदर्शमें कहा गया है—

“उपमा स्पष्ट और सुन्दर समता को कहते हैं ।”

प्रस्फुटमिति रूपकाऽऽदेर्गम्यसाम्याद्भेदाय । सुन्दरं—वैचित्र्यजनकम् । तेन 'गौरिव गवयः' इत्यत्र नायमलङ्कारः । साम्यं—सादृश्यम् । साम्यञ्च - क्रियागतं, गुणगतम्, उभयगतञ्चेति त्रिविधम् । क्रमेणोदाहरणानि । तत्र क्रियागतं यथा—

क्षणात् प्रबोधमयाति लङ्घ्यते तमसा पुनः ।

निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ॥५७॥ [अभि० शाकु०]

अत्र 'आयाति' 'लङ्घ्यते' इति च क्रियाद्वयस्य उपमेये उपमाने च साम्यम् ।

गुणगतं यथा—

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यञ्चन्द्रोदयाऽऽरम्भ इवाम्बुराशिः ।

त्रिविधं साम्यं विभजते—क्रियागतमित्यादिना ।

उद्देश्यक्रमेणोदाहरति—क्षणादिति जरतः वृद्धस्य मतिः बुद्धिः निर्वास्यतः निर्वाणोन्मुखस्य प्रदीपस्य दीपकस्य शिखेव ज्योतिरिव क्षणात् क्षणेन प्रबोधं स्फुरणम् आयाति प्राप्नोति पुनः तमसा अन्धकारेण लङ्घ्यते । स्थविरपक्षे तु प्रबोधम् उद्बोधं तमसा अज्ञानेन च आक्रम्यत इत्यर्थः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

अत्र आयाति, लङ्घ्यते, इति च क्रियाद्वयस्य उपमेये स्थविरे उपमाने दीपशिखायां च साम्यात् क्रियागतसाम्यस्योदाहरणम् ।

गुणगतं साम्यमुदाहरति—हरस्तु इति । कामबाणप्रहारविमुग्धं हरं वर्णयति । हरस्तु = महादेवस्तु चन्द्रोदयस्यारम्भस्तस्मिन् अम्बुराशिः समुद्र इव किञ्चित्

प्रस्फुटम्—यह पद रूपकादिमें गम्यसाम्यके भेदक लिए है । अर्थात् प्रतीयमान साम्य जहां हो वह रूपक और प्रस्फुट साम्य जहां हो वह उपमा होती है । सुन्दर = वैचित्र्यजनक । अतएव "गौरिव गवयः" इस वाक्यमें उपमा अलंकार नहीं है । क्योंकि गौरिव गवयः की समानता वैचित्र्यजनिका नहीं है । साम्य = सादृश्य = समानता । साम्य तीन प्रकारका होता है—क्रियागत, गुणगत, उभयगत । क्रमसे उदाहरण ।

क्रियागत साम्य जैसे—“वृद्ध पुरुषकी बुद्धि बुझते हुए दीपककी शिखाके समान क्षणभरमें प्रबुद्ध होती है और क्षणभरमें अन्धकारसे आवृत्त हो जाती है ।”

इस वाक्यमें 'आयाति' और 'लङ्घ्यते' इन दोनों क्रियाओंका उपमेय और उपमान दोनोंमें समानता है ।

गुणगत जैसे—“चन्द्रोदयके आरम्भमें धैर्यच्युत समुद्रके समान कुछ धैर्य हीन

उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामाश विलोचनानि ॥५८॥ [कुमारस०]

अत्र परिलुप्तधैर्यत्वं गुण उभयत्रापि समानः ।

उभयगतं यथा—

स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते

धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः ॥ [उत्तर रामच०]

अत्र 'स्नपयति' इति क्रियासाम्यम्, 'स्नेहनिष्यन्दिनी' 'धवलबहलमुग्धा' इति गुणसादृश्यञ्च ।

परिलुप्तं धैर्यं यस्य स परिलुप्तधैर्यः सन् विम्बस्य फलमिवाधरोष्ठं यस्य तस्मिन् उमायाः पार्वत्याः मुखे विलोचनानि नेत्राणि व्यापारयामास व्यलोकयत् । चुम्बनाभिलाषोभूदित्यर्थः । उपजातिवृत्तम् ।

अत्र समुद्रे हरे च परिलुप्तधैर्यत्वगुणस्य समानत्वात् गुणगतं साम्यम् ।

उभयगतं साम्यमाह—स्नपयति इति । “विलुलितमतिपूरैर्वाष्पमानन्दशोकप्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा ।” इति पूर्वार्धम् । उत्तररामचरिते सीतामालिङ्गय तमसाया उक्तिरियम् । ते धवला च बहला च मुग्धा च इति तथोक्ता स्नेहं निष्यन्दयतीति दुग्धकुल्या इव क्षीरनदीव दृष्टिः हृदयेशं रामं स्नपयति आर्द्रयति आह्लादयति इत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ।

अत्र स्नपयति इति क्रियासाम्यम् । 'स्नेहनिष्यन्दिनी, धवलबहलमुग्धा' इति गुणसाम्यम् ।

वस्तुतस्तु—उत्प्रेक्षैवात्रोचिता । यत्र उपमानं प्रसिद्धं भवति तत्रैवोपमायाः प्रवृत्तिरिति । अत्र उपमानस्य दुग्धकुल्यारूपस्याप्रसिद्ध्या तेन रूपेण सम्भावनमेवात्र सम्भवति इति उत्प्रेक्षायाः विषयत्वात् नात्रोपमा इति ।

अतः उभयगताया उपमाया उदाहरणमिदं बोध्यम् ।

शिवने पार्वतीके मुखमें विम्बफलके समान अधरोष्ठोंपर नेत्रोंको चलाया ।”

इस श्लोकमें परिलुप्त धैर्यत्व गुण समुद्र और शिवमें समान है क्योंकि दोनोंका धैर्य छूट गया है ।

उभयगत जैसे—“धवल तथा अतिसरल स्नेह को प्रवाहित करने वाली तुमारी दृष्टि दूधकी धाराके समान हृदयेश ! रामको स्नान करा रही है ।”

इस कवितामें “स्नपयति” इस क्रियाकी “स्नेहनिष्यन्दिनी, धवलबहलमुग्धा, इन गुणोंकी समानता है ।

मालोपमा—

‘मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।’ [विश्वनाथः]

यथा—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥५६॥ [कुमारस०]

रूपकम्—

‘तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेययोः ।’ [मम्मटः]

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्दिन्दुच्चेडाविश्वेश्वरः ।

शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ॥ कुवलयानन्दः ।

अस्यायमर्थः । ईश्वरः शङ्करः इन्दुश्चच्चेडश्च इति इन्दुच्चेडौ चन्द्रविषौ, बुधः पण्डितः गुणदोषाविव गृह्णन् विचिन्वन् पूर्वं प्रथमं गुणम् इन्दुं च शिरसा श्लाघते शिरसि धार्यते परं विषं दोषं च कण्ठे गलप्रदेशे नियच्छति निरोधयति । अनुष्टुप् छन्दः ।

अत्र ईश्वरः, उपमानम्, बुधः उपमेयः, इन्दुः उपमानम्, गुण उपमेयः च्चेड उपमानम्, दोष उपमेयः, इवेति साम्यवाचकम् । गृह्णन् इति धर्मः उभयगत इति भवति उपमा ।

मालोपमां लक्षयति—मालाविति । एकस्योपमेयस्य यत् बहु अनेकमुपमानं दृश्यते सा मालोपमा ।

उदाहरति—प्रमेति स हिमगिरिः प्रभामहत्या विपुलप्रभया शिखया ज्वालया दीप इव त्रिमार्गया त्रिपथगया गंगया इत्यर्थः । त्रिदिवस्य स्वर्गस्य मार्गः पन्था इव संस्कारवत्या गिरा शुद्धवाण्या मनीषी विद्वानिव तथा पार्वत्या पूतः पवित्रितः विभूषितश्च शोभितश्च अभूत् । उपजातिवृत्तम् ।

अत्र हिमवतः उपमानं दीपादयः अनेके इति भवति मालोपमा ।

रूपकं लक्षयति—तदिति । यः उपमानोपमेययोः अभेदस्तद्रूपकम् रूपकालङ्कार

मालोपमा—“जहांपर एक उपमेयके अनेक उपमान कहे गए हों वह मालोपमा अलङ्कार है । जैसे—

“अधिक प्रभा वाली शिखासे दीपक, गङ्गाके प्रवाहसे स्वर्ग का मार्ग, संस्कारवती वाणीसे विद्वान्के समान उस पार्वती नामकी पुत्रीसे हिमालय पवित्र तथा शोभित हुआ” ।

रूपक—“उपमान और उपमेयमें अभेदकी प्रतीतिको रूपक कहते हैं ।”

उपमानं चन्द्रादि,, उपमेयं मुखादि । प्रकाशितविभिन्नस्वरूपयोरपि
उपमानोपमेययोरतिसाम्यप्रदर्शनाय काल्पनिकोऽभेदाऽऽरोपो रूपक-
मित्यर्थः । यथा—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।

लतावधूम्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥६०॥ [कुमारस०

अत्र लतासु वधूनां, पुष्पस्तवकाऽऽदिषु च स्तनाऽऽदीनाम-
भेदारोपः ।

उत्प्रेक्षा—

‘सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।’ [दण्डी]

प्रकृतस्य—उपमेयस्य, समेन—उपमानेन, सम्भावनञ्च—उत्कट-

इत्यर्थः । रूपकस्य निष्कृष्टार्थमाह—प्रकाशितेति । प्रकाशितं विभिन्नं स्वरूपं ययोः
उपमानोपमेययोः अतिसाम्यप्रदर्शनाय काल्पनिकोऽभेदारोपः रूपकालङ्कारस्य विषयः ।

उदाहरति—पर्याप्तेति । पर्याप्तानि बहूनि यानि पुष्पाणि तेषां स्तवका
एव स्तनाः कुचाः यासां ताभ्यः, स्फुरन्तौ प्रवालौ एव श्रोष्ठौ ययास्तैः मनोह-
राभ्यः लता एव वध्वस्ताभ्यस्तरवः वृक्षा अपि विनम्रा शाखा एव भुजास्तैः
बन्धनानि वेष्टनानि आलिङ्गनानि आपुर्लभिरे ।

अत्र अचेतना अपि मदनविकारं ह्येभिरे किं—पुनश्चेतनाः । इति भावः ।

उत्प्रेक्षां लक्षयति—सम्भावनमिति । प्रकृतस्योपमेयस्य समेनोपमानेन यत्
सम्भावनम् अथ उत्प्रेक्षा । सम्भावना पदार्थमाह—उत्कटेति । उत्कटः प्रवलस्तत्को-

उपमान—चन्द्रमा आदि । उपमेय मुख । जिनकी विभिन्नरूपता प्रसिद्ध है ऐसे
उपमान और उपमेयका साम्य बतलानेके लिए कल्पित अभेदारोपको रूपक कहते हैं।”

जैसे—“बड़े बड़े पुष्पके गुच्छोंके समान स्तन, चञ्चल कोमल परोके समान
मनोहर ओष्ठ वाली लतारूपवधुओंसे घृत्तोंने भी विनम्र शाखारूपी भुजाका बन्धन
प्राप्त किया ।”

इस कल्पनामें लताओंमें वधूकी और पुष्पस्तवकोंमें स्तनादिका आभेदारोप किया
गया है । अर्थात् उपमानोपमेयलता और वधूका, प्रवाल और ओष्ठका, पुष्पस्तवक
और स्तनका अभेदारोप ही रूपक है ।

उत्प्रेक्षा । उपमेयका उपमानके साथ तर्कन सम्भावन या उत्प्रेक्षणको उत्प्रेक्षा
कहते हैं ॥

प्रकृतस्य—उपमेयका, समेन = उपमानके साथ, सम्भावनं=उत्कट कोदिका संशय,

कोटिकः संशयः; अप्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वञ्च प्रस्तुतकोटेर्निगरणेन जाय-
ते, निगरणञ्च प्रस्तुतस्य क्वचिदनुपादानेन क्वचिदुपात्तस्याभ्यधःकर-
णेन भवति । यदुक्तम्—

निगीर्णत्वलक्षणम्—

‘विषयस्यानुपादानेऽप्युपादाने च सूरयः ।

अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ॥’ [दण्डी०]

विषयः—प्रस्तुतम् । क्रमेणोदाहरणम्—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसैवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ६१ ॥ [मृच्छ०]

टिकः तत् पक्षकः संशय इत्यर्थः । अप्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वं किम् इत्ययेक्षायामाह—
उत्कटरवञ्चेति ।

निगरणत्वं लक्षयति—विषयेति । विषयस्य उपमेयस्य अनुपादाने अप्रहस्ये
उपादाने प्रहस्ये अधःकरणमात्रेण तिरस्कारकारणमात्रेण च सूरयः विद्वांसः निगी-
र्णत्वं प्रचक्षते ।

त्रिविधनिवारणेन त्रिविधायाः उत्प्रेक्षायाः उदाहरणानि क्रमेणाह—तत्र प्रथमं
विषयानुपादानरूपाया उत्प्रेक्षाया उदाहरणमाह—लिम्पतीति । तमः अन्धकारं
अङ्गानि शरीराणि लिम्पतीव लेपं कुर्वती इव । नभः आकाशं अञ्जनं कज्जलं
वर्षतीव असत्पुरुषस्य सेवा इव दृष्टिः दर्शनशक्तिः विफलतां वैफल्यं गता
प्राप्ता । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

अप्रस्तुत कोटिकी उत्कटता, प्रस्तुत कोटिके निगरणसे होती है । निगरण उसे कहते
हैं, जहांपर प्रस्तुत (उपमेय) का अनुपादान हो या उपादानके बाद उसका अधः-
करण किया गया हो ।

निगीर्णका लक्षण इस प्रकार है—

“विषय अर्थात् उपमेयके अनुपादान अथवा उपादान करने पर भी यदि अधः-
करण किया गया हो तो उसे विद्वान लोग निगीर्ण कहते हैं ।”

विषय = उपमेय । क्रमसे उदाहरण—

“अङ्गोंमें अन्धकारका लेप-सा हो रहा है, आकाशसे अञ्जनकी बृष्टि-सी हो रही है
असत्पुरुषकी सेवाके समान दृष्टिभी निष्फल हो गई है ।”

अत्र तमसः प्रसरसम्पाताऽऽदिरूपो विषयो नोपात्तः ।

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां

समनन्दयत् सुमुखि ! गौतमापितः ।

अयमागृहीतकमनीयकंकण-

स्तव मूर्त्तिमानिध महोत्सवः करः ॥६२॥ [उत्तररामच०]

अत्र विषयः कर उपात्तोऽपि मूर्त्तिमन्महोत्सवरूपेणाधः कृतः ।

उत्प्रेक्षाबोधकशब्दाः—

‘मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।

उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ [दण्डी]

अत्र तमसः प्रसाररूपो विषयः अङ्गनस्य च सम्पातरूपो विषयः नोपात्तः ।

विषयाधःकरणत्वरूपानिगरणस्योदाहरणमाह—समय इति । हे सुमुखि ! अयं स समयः कालः वर्तत इव यत्र यस्मिन् समये एष तव मूर्त्तिमान् शरीरी महोत्सवः महोत्सवसदृशः करो हस्तः गौतमेन शतनन्देन अपितः दत्तः सन् आगृह्यतं प्रतिमुक्तं कमनीयं कङ्कणं येन स मां रामं समनन्दयत् समतोषयत् । मञ्जुभाषिणीवृत्तम् ।

अत्र कररूपो विषयः उपात्तोऽपि मूर्त्तिमान् महोत्सवरूपेणाधःकृतः ।

उत्प्रेक्षाबोधकाशब्दाः के इत्यपेक्षायामाह—मन्ये इति ।

यहांपर अन्धकारका प्रसरण तथा सम्पात रूप विषय (अर्थात् उपमेय) का उपादान नहीं किया है ।

“हे सुमुखि ! गौतम गोत्रके शतानन्दजी पुरोहितके द्वारा अपित मनोहर कङ्कणको धारणकर मूर्त्तिमान् महोत्सवके समान यह तुम्हारा कर जिस समय मुझे आनन्दित कर रहा था वही समय वर्तमान समयमें बीत सा रहा है ।”

यहांपर विषय (उपमेय) करका उपादान करने पर भी उसका महोत्सवके साथ अधःकरण कर दिया गया है ।

उत्प्रेक्षाबोधक शब्द—

मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनं, इति, एवं, आदि शब्दोंसे उत्प्रेक्षाकी व्यञ्जना होती है इसी प्रकार इव शब्दभी उत्प्रेक्षा व्यञ्जक है ।

अतिशयोक्तिः—

‘सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।’ [विषयनाथः]

प्रकृतस्य निगरणेनाभेदज्ञानमप्रकृतस्य अध्यवसायः । तस्य च उत्प्रेक्षायामप्रस्तुतस्यानिश्चितत्वेन निर्देशात् साध्यत्वम् । इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति सिद्धत्वमित्यनयोर्भेदः । निगरणञ्च उभयत्रापि समानमेव । यथा—

अकालजलदाऽवली किरतु नाम मुक्ताऽवली-

रपर्वणि विधुन्तुदस्तुदतु हन्त ! शीतद्युतिम् ।

इदं तु महदद्भुतं यदनपायिविद्युल्लता-

ऽवलम्बि कनकाचलद्वयमधोमुखं नृत्यति ॥ ६३ ॥

अतिशयोक्तिं लक्षयति—सिद्धत्व इति । उपमेये निगरणद्वारा तेन सह उपमानस्य अभेदनिश्चयनमध्यवसायः । एतादृशस्याध्यवसायस्य सिद्धत्वे निश्चितत्वेन प्रतीतौ अतिशयोक्तिरलङ्कारः । अध्यवसायपदार्थमाह—प्रकृतस्येति । अध्यवसायः द्विविधः—एकः सिद्धः, अपरः साध्यस्तत्र साध्यमाह—उत्प्रेक्षायामिति । सिद्धमाह—इहेति ।

उदाहरति—अकालेति । स्नात्वोथितां जलपूरितकेशान्केनचित् साधनेन साधयन्तीं युवतीमवलोक्य कस्यचिद् युवकस्योक्तिरियम् । अकालजलदानाम् असमयोद्गतमेघानामवली राजिः मुक्तावलीर्मुक्तामालाः किरतु क्षिपतु, अपर्वणि पूर्णिमां वर्जयित्वा विधुन्तुदो राहुः शीतद्युतिं चन्द्रमसं तुदतु पीडयतु, एतत् सम्भाव्यते इति तात्पर्यम् । हन्त खेदे तु किन्तु इदं पुरोदश्यमानं महदद्भुतम् अत्यद्भुतं यत् अनपायिनी स्थिरा या विद्युल्लता तडिल्लेखा तम् अवलम्बते इत्य-

अतिशयोक्तिः । “उपमेयमें उपमानके आरोपको अतिशयोक्ति कहते हैं ।”

“उपमेयके निगरणके साथ उपमानमें अभेदारोपको अध्यवसाय कहते हैं । उत्प्रेक्षा अलङ्कारमें उपमेयका उपमानमें अनिश्चित आरोप होता है अतः वहाँपर अध्यवसाय सिद्ध नहीं अपितु साध्य है । अतिशयोक्तिमें तो उपमेयमें उपमानका आरोप निश्चित है अतः यहाँ सिद्ध है । यही दोनोंमें भेद है । विषयका निगरण दोनोंमें समान ही है ।”

“असमयके मेघ मुक्ताकी वर्षा कर सकते हैं । पूर्णिमासे अतिरिक्त दिनमें भी राहु चन्द्रमाको ध्यथा पहुँचा सकता है । किन्तु यह महाआश्चर्य है कि स्थिर विद्युत्-लतामें दो कनकाचल (सुमेरु पर्वत) नीचेमुख किए हुए नाच रहे हैं ।

अत्र केशादेर्जलदाऽवल्यादिरूपेणाध्यवसानम् ।

यथा वा—दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा

धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।

कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानः

वीरो रसः क्रियमित्युत दर्प एव ॥ ६४ ॥ [उत्तररामच०]

अत्र कुशस्य वीररसरूपेण दर्परूपेण चाध्यवसानम् । प्रथमे विषयः केशाऽऽदिनीपात्तः, द्वितीये 'अयम्' इत्यनेनोपात्तोऽध्यधःकृतः ।

वलम्बि कनकाचलयोर्द्वयम् अधोमुखं सत् नृत्यति । अकाले मेघाः मुक्ताकिरन्तु राहुश्चन्द्रमसम् अपर्वण्यपि पीडयतु इति सम्भाव्यते किन्तु पुरोदृश्यमानमिदं महद्दुमुतं यत् स्थिरां विद्युक्तामवलम्ब्य गिरिद्वयं नृत्यति इत्यर्थः । पृथ्वीच्छन्दः ।

अत्र केशात् निःसरन्तं जज्ञकणं मुक्तावलीरूपेण, मुखं चन्द्रत्वेन रूपेण कल्पयित्वा केशान् राहुरूपेण, कामिनीं विद्युक्तारूपेण, स्तनद्वयं कनकाचलद्वयरूपेण कथनमेव विषयमुपमेयं निगीर्य उपमानेन सह श्रमेदनिश्चयस्य सत्त्वेनातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

उदाहरणान्तरमाह—दृष्टिरिति । उत्तरे रामचरिते युद्धायागच्छतः कुशस्य वर्णनमिदम् । तृणोक्तं जगतां लोकानां त्रयस्य त्रितस्य सत्त्वानां प्राणिनां सारो यथा सा दृष्टिः अवलोकनम् । धरित्राम् पृथ्वीं नमयतीव नीचैः करोतोव धीरोद्धता गतिः गमनम् । कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां कुमारावस्थायामपि पर्वतवत् गुरुतां दधानः धारयन् अयं वीरो रसः उत दर्पः अहंकार एव इति सन्दिग्धे । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अत्र कुशः दर्परूपेण वीररसरूपेण चाध्यस्तः ।

निगरणस्य स्वरूपलक्षणं संघटयति—प्रथमे इति, द्वितीये इति च ।

यहांपर केशादिमें मेघादिका आरोप ही अतिशयोक्ति है ।

उदाहरणान्तर इस प्रकार है ।

“तीनों लोकके सत्त्वको तृणके समान देखने वाली दृष्टि, पृथ्वीको लचकाती हुई धीरोद्धता गति, कुमार अवस्थामें भी पर्वतके समान गुरुता धारण किए हुए यह वीर रस आरहा है या दर्प ही है ।”

यहां पर कुशका वीररस रूपसे अथवा दर्परूपसे आरोप किया गया है । प्रथम श्लोकमें विषय (उपमेय) केशादिका उपादान नहीं है । द्वितीय श्लोकमें “अयं” इस शब्दसे विषयका उपादान करके भी अधःकृत कर दिया गया है ।

अतिशयोक्तिभेदाः—

‘प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।

विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा’ऽप्यन्यैव प्रथमोक्ततः ॥ [मम्मटः]

क्रमेणोदाहरणम्—

अन्यदेवाङ्गलावण्यमान्याः सौरभसम्पदः

तस्याः पद्मपलाशाद्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥ ६५ ॥

अन्यान् अतिशयोक्तिभिन्नानपि अतिशयोक्तिसमानतिशयोक्तिभेदरूपेण दर्शयति—
प्रस्तुतस्येति । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्योदमेयस्य । यदन्यत्वम् अन्यशब्देनाभिधानं साप्य-
तिशयोक्तिः । यदि अर्थोक्तौ शब्दार्थस्योक्तौ कथने सति असम्भविनोऽर्थस्य कल्पनम्
साप्यतिशयोक्तिः । कार्यकारणयोर्यच्च पौर्वापर्यं तस्य विपर्ययश्च साप्यतिशयोक्तिः
इति प्रथमोक्ततः भिन्नां त्रिप्रकारामतिशयोक्तिं प्राहुः ।

अत्रेदमवधेयम् । विश्वनाथः प्रथमोक्तामेवातिशयोक्तिं मन्यते । मम्मटमहाशयास्तु
उपर्युक्तामन्यामपि इति मम्मटमतेनैताषां संग्रहो ग्रन्थकृत् कृतः । यद्यपि विश्वनाथो-
क्तामन्यां “भेदेऽप्यभेदः” इत्यादिनोक्तान् अतिशयोक्तिभेदान् नासौ लिलेख तत्र ग्रन्थ-
कर्तुः इच्छैव प्रधानम् ।

तत्र क्रमेणोदाहरति—अन्येति । तस्याः पूर्वदृष्टायाः पद्मस्य पलाशमित्रा-
क्षिणी यस्यास्तस्याः पद्मपलाशाद्या अङ्गानां अवयवानाम् लावण्यं सौन्दर्यम्
अन्यदेव अलौकिकमेव सौरभस्य सम्पद अन्याः अलौकिकाः सरसत्वं सह-
दयत्वं च अलौकिकं लोकोत्तरमेव । एवं सा दिव्या योषिदित्यर्थः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

अत्र प्रस्तुतायाः पद्मपलाशाद्या अन्यशब्देन कथनादन्यवनिताजनातिशा-
यिनी सेति अतिशयोक्तिः स्फुटा ।

अतिशयोक्तिके भेद—

“उपमेयका अन्यरूपसे वर्णन करना, असम्भव अर्थका यदि आदि शब्दोंसे कल्पना
करना, कार्य—कारणका पौर्वापर्य और उसके विपर्ययको भी अतिशयोक्ति समझना
चाहिए । वह भी पहली अतिशयोक्तिसे भिन्न है ।”

क्रमसे उदाहरण—

“विचित्र प्रकारकी अङ्गोंकी सुन्दरता, और विचित्र प्रकारकी सुगन्धकी सामग्री,
की भाँति उस कमलनयनीकी सरसता भी अलौकिक ही थी ।”

यदिशब्देन, तत्पर्यायान्तरेण वा यद्यर्थस्य कथनेऽसम्भविनोऽर्थस्य कल्पनमित्यर्थः । यथा—

पुष्पं प्रवालोलपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तहचः स्मितस्य ॥६६॥

[कुमारस०]

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति, कारणात् पूर्वं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च । क्रमेण यथा—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।

तृतीयं मेदमुदाहर्तुं प्रथमं कारिकां स्वयं विवृणोति—यदि शब्देनेति । उदाहरति—पुष्पमिति । कुमारसम्भवे पार्वत्याः स्मितस्य वर्णनम् । यदि पुष्पं प्रवालैरूपहितम् आच्छादितं स्यात् स्फुटं यद्विद्रुमं तत्र तिष्ठति तत् स्फुटविद्रुमस्थं, मुक्ताफलं स्यात्, ततः विशदस्य स्वच्छस्य तस्याः पार्वत्याः ताम्रौ श्रौष्टौ तयोः पर्यस्ता रुचिर्यस्य तादृशस्य स्मितस्य समयनस्य अनुकुर्यात् अनुकरणं विदधात् । उपजातिः वृत्तम् ।

अत्र यदि शब्देन असम्भविनोऽर्थस्योक्तौ प्रवालोलपहितपुष्पादेः स्मितं निरूपममिति कल्पनम् अतिशयोक्तिः ।

चतुर्थस्य विवरणं करोति—कार्येति । द्विधेति । कारणात् पूर्वभावित्वेन, कार्यकारणयोः समकालभावित्वेन चेति ।

तत्र प्रथमं कारणात् पूर्वकालभाविनमुदाहरति—उदेतीति । पूर्वं कुसुमं पुष्पम् उदेति उत्पद्यते ततस्तदनन्तरं फलम् उदेतीत्यर्थः । प्राक् घनोदयः मेघो-

यदि शब्दसे अथवा उसके पर्यायवाचक शब्दोंसे अर्थकी कल्पना द्वारा असम्भव अर्थका कथन अतिशयोक्ति है । जैसे—

“यदि कोमल पत्रोंसे घिरा हुआ पुष्प हो, सुन्दर विद्रुम (मूंगा) में मोती रक्खी हुई हो, तब लाल ओष्ठकी कान्तिकी विखराने वाले उसके स्पष्ट स्मित (मुस्कराहट) की उपमा मिल सकती है ।

कार्य-कारणका पौर्वापर्यविपर्यय दो प्रकारका होता है । एक तो कारणसे पूर्व कार्यका होना, दूसरा दोनोंका एक कालमें हो जाना । क्रमसे उदाहरण—

“प्रथमपुष्प उगता है तब फल, प्रथम बादल होता है तदनन्तर जलवृष्टि, यह

निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तत्र प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥ ६७ ॥

[अभि० शाकु०]

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।

तेन सिंहाऽऽसनं पित्र्यमखिलञ्चारिमण्डलम् ॥६८॥ [रघु०]

व्यतिरेकः—

‘उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।’ [मम्मटः]

अन्यस्य—उपमेयस्य, व्यतिरेकः—आधिक्यम्, स एव व्यतिरेकालङ्कारः । यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते पद्माऽऽश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।

दयः तदनन्तरं पयः जलम् । अयं क्रमः निमित्तं च नैमित्तिकञ्च तयोः निमित्तनैमित्तिकयोः कारणकार्ययोः प्रसिद्धः तु किन्तु तत्र भवतः प्रसादस्य प्रसन्नतायाः पुरः पूर्वं सम्पदः सम्पत्तयः भवन्ति ।

अत्र प्रसादरूपात् कारणात् सम्पत्तिरूपं कार्यं पूर्वभावित्वेन वर्णितम् ।

द्वितीयं समकालिकत्वरूपमुदाहरति—सममेवेति । द्विरदस्येव गमनं यस्य तेन गजगामिना तेन रघुणा पित्र्यं पितृसम्बन्धि सिंहासनं राज्यासनम् अखिलं सम्पूर्णमरिमण्डलं शत्रुमण्डलं च द्वयं द्विसंख्याकं सममेव सहैव समाक्रान्तम् अभिभूतम् ।

अत्र राज्यारोहणानन्तरं भाविनः शत्रुविजयरूपकार्यस्य सहैव वर्णनम् ।

व्यतिरेकालंकारं लक्षयति—उपमानेति । उपमानाद् अन्यस्य उपमेयस्य यत् व्यतिरेकः आधिक्यं स एव व्यतिरेको व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः ।

उदाहरति—चन्द्रमिति । लक्ष्मीः शोभा चन्द्रं गता चन्द्राश्रिता सती

निमित्त और नैमित्तिकका (कार्य और कारणका) क्रम है किन्तु तुम्हारी प्रसन्नताके पहले ही सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है ।”

“हाथीके समान चलने वाले उस वीरने पिताके सिंहासन तथा सम्पूर्ण शत्रुमण्डलपर एक साथ आक्रमण किया । अर्थात् सिंहासन पर बैठते ही शत्रु डर गए ।”

व्यतिरेक । उपमानकी अपेक्षा उपमेयमें जहां आधिक्य वर्णित हो वहां व्यतिरेकालङ्कार होता है ।

अन्यस्य = उपमेयका । व्यतिरेक = आधिक्य । स एव = वह ही । सः = व्यतिरेकालङ्कार है ।

जैसे—“लक्ष्मी जब चन्द्रमाके गुणोंका अनुभव करती है तब पद्मके गुणोंका भोग

उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥६६॥ [कुमारस०]
अत्र उपमानभूतचन्द्रपद्मापेक्षया उपमेयस्य उमामुखस्य अधिक-
गुणवत्त्वकथनम् । यथा वा—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥७०॥ [रघु०]

अत्र उपमानभूतात् सूर्यादपि रघोः प्रतापातिशयवर्णनम् ।

प्रतिवस्तूपमा—

‘प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोग्म्यसाम्ययोः ।

एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्’ [विश्वनाथः]

पद्मगुणान् सुरभित्वादीन् न नहि भुङ्क्ते न प्राप्नोति । पद्माश्रिता पद्मगता
चान्द्रमसी चन्द्रसम्बन्धिनी अभिख्यां शोभां न भुङ्क्ते इत्यर्थः । लोला
चञ्चला सा उमायाः मुखं पार्वत्या मुखं प्रतिपद्य प्राप्य तु द्विसंश्रया द्विनिष्ठां
चन्द्रगतां पद्मगतां चेत्यर्थः । प्रीति प्रसन्नतां आप प्राप्ता । उमजातिवृत्तम् ।

अत्र चन्द्रकमलापेक्षया उपमानस्य मुखस्याधिक्यं व्यतिरेकः ।

उदाहरणान्तरमाह—दिशि इति । दक्षिणस्यां दिशि खे आकाशे सूर्यस्यापि
तेजः प्रतापः मन्दायते मन्दीभवति । तस्यां दक्षिणस्यां दिशि एव पाण्ड्याः
पाण्डुदेशोद्भवा राजानः रघोः प्रतापं प्रभावं न विषेहिरे सोढुं न शेकुः ।
अनुष्टुप् वृत्तम् ।

अत्र उपमानात् सूर्यरूपात् अन्यस्य उपमेयस्य रघोः प्रतापस्य अधिकगुणवत्त्व-
कथनम् व्यतिरेकालङ्कारः ।

प्रतिवस्तूपमालङ्कारं लक्षयति—प्रतिवस्तूपमेति । सा प्रतिवस्तूपमा स्यात् यत्र

नहीं कर पाती, इसी प्रकार जब पद्मके गुणोंका अनुभव करती है । तब चन्द्रमाकी
शोभाका भोग नहीं कर पाती, किन्तु जब पार्वतीके मनोहर मुख पर बैठती है तो
चन्द्रमा और पद्म दोनोंकी शोभाका अनुभव करती है ।”

इसमें उपमान चन्द्रमा और पद्मकी अपेक्षा उपमेय उमामुखका गुण अधिक
वर्णित है । अथवा ।

“जब सूर्य भी दक्षिण दिशामें जाते हैं तो उनका भी प्रताप मन्द पड़ जाता है
किन्तु उसी दक्षिण दिशामें पाण्ड्य लोग रघुका प्रताप सहन नहीं कर सके ।”

यहाँपर उपमानभूत सूर्यसे सूर्यवंशके प्रतीक रघुका प्रताप अधिक वर्णित है ।

प्रतिवस्तूपमा । “प्रतिवस्तूपमा उसे कहते हैं जहां—साम्य प्रतीयमान हो और

प्रतीयमानसादृश्ययोर्वाक्ययोरेकस्यापि धर्मस्य पौनरुक्त्यभिया
शब्दान्तरेण निर्देशः प्रतिवस्तूपमा । यथा—

मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।

समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ? ॥७१॥

[कुमारस०]

अत्र अनुक्तरयापि सहजसहायस्य स्वत एव सहाय्यसम्पादने प्र-
वृत्तिरित्येक एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्टः ।

यथा वा—

धन्याऽसि वैदभि ! गुरौरुदारर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।

गम्यं च प्रतीयमानं साम्यम् उच्यमानं च तयोः वाक्ययोः पदसमूहयो एकः अपि
धर्मः वाक्यार्थनिष्ठो धर्मः पृथक् सामान्यः सामान्यरूपेण निर्दिश्यते ।

विवृणोति—प्रतीति । उदाहरति—मधुश्चेति । हे मन्मथ काम । ते भवतः
साहचर्यात् सहचरितत्वात् अनुक्तः आप इकथितः अपि मधुः वसन्तः
सहाय एव सहायक एव भवति । हेतुमाह—हुताशनस्याग्नेः समीरणः वायुस्त्वं
नोदयिता भव इति अनेन प्रकारेण केन व्यादिश्यते नियुज्यते प्रेर्यते न केना-
पीति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

संगमयति—अत्रेति । सहजः सहायकः स्वयमेव सहायतायां प्रवर्तत एव इत्यनु-
क्तोऽप्यर्थः शब्दान्तरेण उक्तः ।

उदाहरणान्तरमाह—धन्येति । दमयन्तीं प्रति हंसस्योक्तिरियम् । हे वैदभि !

एक भी सामान्य धर्म पृथक् निर्दिष्ट हो । किन्तु साम्य शब्दतः उक्त न हो ।”

जिनका सादृश्य प्रतीत हो रहा हो ऐसे वाक्योंका एक भी धर्म पुनरुक्तिके भयसे
शब्दान्तरसे गाया जाय वह प्रतिवस्तूपमा होती है । जैसे—

“हे मन्मथ ! वसन्त बिना कहे भी तुम्हारा सहचर है और सहायक है । “हे
समीरण ! तुम अग्निके प्रेरक बनो” यह वायुको कौन आदेश देता है ।”

अर्थात् जैसे बिना किसी की प्रेरणाके वायु अग्निका प्रेरक होता है उसी प्रकार
वसन्त भी कामदेवका स्वतः सहायक है ।

यहांपर “सहज सहायक स्वयं सहायताके लिए तत्पर रहता है” यही एक अर्थ
शब्दतः न कह कर शब्दान्तरसे कहा गया है । अथवा ।

“हे वैदभि दमयन्ती ! तम धन्य हो, जिस तने अपने उदार गुणोंसे नलको

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ? ॥७२॥

अत्र समाकर्षणरूप एक एव धर्मः भङ्गयन्तरेण पृथक् निर्दिष्टः । [नैषधच०]
निदर्शना—

‘अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।’

निदर्शना भवेत् सेयं, मम्मटेन यथोदिता ।

उपमापरिकल्पकः—पर्यवसाने मम्मटेन साम्यबोधकः । यथा—

क सूर्यप्रभवो वंशः ? क अल्पविषया मतिः ? ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ७३ ॥ [रघु०]

दमयन्ति । उदारैः गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिर्घन्यासि भाग्यवत्यसि । यया त्वया नैषधः नलः अपि समाकृष्यत आकृष्टः । इत इतोऽधिका चन्द्रिकायाः ज्यौस्नायाः का खलु स्तुतिः का प्रशंसा यत् अब्धि सागरमपि उत्तरलीकरोति चंचलीकरोति । पूर्णिमायां चान्द्रिकामवलोक्य सिन्धुद्वेलतां प्राप्नोति इति कविसमय प्रसिद्धिः । कथा । उपजातिवृत्तम् ।

निदर्शनां लक्षयति—अभवन्निति । अवन्यनुपपद्यमानो वस्तुनोः वाक्यार्थ-योः सम्बन्धः उपमापरिकल्पकः औपम्याक्षेपकः यत्र भवति सा इयं निदर्शना भवेत् यथा मम्मटेन उदिता कथिता ।

उदाहरति—केति । सूर्यात्प्रभवः उत्पत्तिर्यस्य स सूर्यप्रभवः दिनकरोत्पन्नः । वंशः सूर्यवंशः क अतिमहानित्यर्थः । अल्पः स्वल्पः विषयो यस्याः सा अल्पविषया अल्पज्ञा मतिः बुद्धिश्च क अतिलघ्वीत्यर्थः । तथापि मोहात् अज्ञानाद् उडुपेन प्लवेन (घनई इति भाषायाम्) दुस्तरं दुःखेन तरितुं शक्यं सागरं समुद्रं तितीर्षुः तरितुमिच्छुरस्मि ।

भी आकृष्ट किया है । अब इससे अधिक चन्द्रिका की कौनसी प्रशंसा है जो समुद्रको उत्तरङ्गित करता है ।

यहां पर समाकर्षणरूप एक ही धर्मका शब्दान्तरसे पृथक् निर्देश किया गया है ।

निदर्शना । जहांपर वस्तुका सम्बन्ध परस्पर न जुटता हो और वह स्वार्थबोधके लिए उपमाकी कल्पना करता हो उसे निदर्शना कहते हैं जैसा कि मम्मटभट्टने कहा है ।

उपमापरिकल्पकः = अन्ततो गत्वा समानताका बोधक हो ।

जैसे—“कहां सूर्यसे उत्पन्न होने वाला महान वंश, और कहां अल्पज्ञ मेरी बुद्धि । फिर भी मोहवश उडुप (घनई) से दुस्तर सागर पार करना चाह रहा हूँ ।”

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिव इत्युपमायां पर्यवस्यति । यथा वा —

अभ्युन्नतांगुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणात् रागमिवोद्गिरन्तौ ।

आजहतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ ७४ ॥

[कुमारस०]

अत्र उपमाधर्मस्य अरविन्दश्रियश्चरणयोरुपमेयभूतयोः असम्भवाद् अरविन्दश्रियमिव श्रियमित्युपमायां पर्यवसानम् ।

अत्र स्वबुद्ध्या सूर्यवंशवर्णनम् उडुपेन सागरतरणमिव इत्युपमायां पर्यवसानं भवति । अनुष्टुप् छन्दः ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—यथा वेति । उदाहरति—अभ्युन्नेति । अभ्युन्नतौ यावङ्गुष्ठौ तयोर्यौ नखौ तयोः प्रभाभिः कान्तिभी रागमिव रक्तिमानमिव निक्षेपणात् विन्यासात् उद्गिरन्तौ उद्वमन्तौ तच्चरणौ तस्याः पार्वत्याः चरणौ पृथिव्यां भुवि स्थलारविन्दानां स्थलकमलानाम् अव्यवस्थाम् अचलां श्रियं शोभाम् आजहतुः आकर्षतुः । उपजातिः वृत्तम् ।

अत्रेदं विचारणीयम् । पूर्वोक्ते दृष्टान्ते वाक्ययोर्न सामान्यविशेषभावः । यतः परस्परं धर्मविशेषसाम्याभावेन निरपेक्षयोर्वाक्ययोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावे एव दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र च वाक्यार्थयोः साक्षात्साधारणधर्मस्यानुपादानं चेति भेदः । यथा उदाहृतश्लोके उडुपमादाय कालिदासो न खलु सागरं तितीर्षुरासीत् अस्मीत्यनेन च कर्तृत्वसम्बन्धोऽप्रभवन्नीदृशं सादृश्यं बोधयति । अतः दृष्टान्तालङ्कारविषयं परित्यज्यैव निदर्शनायाः विषयः ।

यहां पर मेरी छोटी सी बुद्धिसे सूर्यवंशका वर्णन करना उडुपसे सागरतरणके समान है, इस प्रकार उपमाकी कल्पना सिद्ध हो जाती है । अथवा—

“उन्नत अङ्गुष्ठनखकी प्रभाके पड़नेसे राग उगिलतेसे उसके चरण पृथ्वीमें अस्थिर स्थलकमलकी शोभा ले रहे थे ।”

यहांपर उपमाके धर्म अरविन्दश्रीका उपमेयभूत चरणोंमें रहना “अरविन्दकी शोभाके समान चरणकी शोभा है” इस प्रकार उपमाकी कल्पनामें परिणत हो जाता है ।

दृष्टान्तः—

“दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।” [विश्व०]

सधर्मस्य—समानधर्मस्य, वस्तुनः—विषयस्य, प्रतिविम्बनम्—
प्राणिधानेन गम्यसाम्यत्वम् । प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव धर्मस्य भङ्ग्य-
न्तरेण निर्देशः, इत्यस्माद्भेदः । यथा—

“नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।

इन्धनौघघग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥” ॥ ७५ ॥ [माघः]

दृष्टान्तमाह—दृष्टान्तैति । समानो धर्मो यस्य तस्य सधर्मस्य वस्तुनः पदार्थस्य
प्रतिविम्बनं प्रतिविम्बभावेन स्थानं प्रस्तुतसमर्थनाय तात्पर्यलभ्यसाम्यतया वाक्या-
न्तरेणोपादानमित्यर्थः । दृष्टान्तो नामालङ्कारः । दृष्टान्तस्तु इति तु शब्दस्तु निर्दर्शनातो
भेदप्रदर्शनाय । सधर्मस्येत्यत्र (धर्मादनिच् केवलात् १५।४।१२४ पा०) इत्यनिचः
प्राप्तावपि तदकरणं चिन्त्यम् ।

प्रतिवस्तूपमातोऽस्य भेदं विवृणोति—प्रतिवस्त्विति । निर्दर्शनातोऽस्यभेदस्तु
प्रागेवोक्तमस्माभिः ।

उदाहरति—नैतेति । लघु अपि एतद् वचः वचनं भूयस्या बहुलया
वाचा वचनेन नातिशय्यते नातिक्राम्यते । इन्धनौघं काष्ठसमूहं दहतीति इन्धनौ-
घघक् अग्निः त्विषा कान्त्या पूषणं सूर्यं नात्येति नातिक्राम्यति । अत्र यथा
वचः वाचा नातिशय्यते तथा अग्निः त्विषा पूषणं नात्येति इति दृष्टान्तो गम्यते ।

अत्रेदं बोध्यम् । अत्रोदाहरणे एकस्यैव धर्मस्य अतिक्रमणरूपस्य गम्यसा-
म्ययोः पर्यायान्तरेण नातिशय्यते, नात्येतीत्यनेन पृथक्तया निर्देशादत्र प्रतिवस्तूपमैव ।

दृष्टान्त—समान धर्मवाले विषयका बिम्बप्रतिबिम्बभावस्थापन ही दृष्टान्त अलङ्कार
है । सधर्मस्य = समानधर्मवाले, वस्तुनः = विषयका, प्रतिविम्बनम् = प्राणिधानपूर्वक
प्रतीयमान साम्य । प्रतिवस्तूपमामें एक ही धर्मका विभिन्न शब्दोंसे निर्देश करके
बिम्बप्रतिबिम्बभावकी कल्पना रहती है अतः वह दृष्टान्तसे भिन्न रहता है ।

दृष्टान्तका उदाहरण—

“भगवान् कृष्णचन्द्रकी इस थोड़ी सी वाणीकी व्याख्या बड़ी भाषामेंकी जाय
किन्तु वह उसका तात्पर्य वैसे ही उतना साफ नहीं कर सकती, जितना इस छोटी सी
भाषासे है । जैसे इन्धनसमूहको जलाने वाली भी अग्नि कान्तिमें सूर्यको नहीं लाँक
सकती ।”

अर्थान्तरन्यासः—

“सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥” [मम्मटः]

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण, विशेषो वा सामान्येन यत् समर्थ्यते—सोपपत्तिकतया दृढः क्रियते, सोऽर्थान्तरन्यासः । समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावे अर्थान्तरन्यासः, दृष्टान्तस्तु न तथा, इत्यनयोर्भेदः ।

सामान्यं विशेषेण यथा—

“बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।

अतः नेद दृष्टान्तस्योदाहरणम् । किन्तु—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाजा ॥

अस्यार्थः । अविदितो गुणो यस्याः सा अज्ञातगुणापि सतां कवीनां भणितिः सत्कविवाणी कर्णेषु श्रोत्रेषु मधुधाराम् अमृतधारां वमति उद्गिरति । माधुर्यादिना अनधिगतं परिमलं यस्याः सा अज्ञातगन्धा अपि मालती पुष्पमाला दृशं नयनं हरति आकर्षति ।

अत्र मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च नैकरूपत्वम् परं प्रणिधानेन गम्यसाम्यत्वमस्तीति भावः । वमनहरणयोरुभयोः भावपदार्थतया साधर्म्यम् ।

अर्थान्तरन्यासं लक्षयति—सामान्यमिति । साधर्म्येण इतरेण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण, विशेषः सामान्येन वा यत् समर्थ्यते सोऽर्थान्तरन्यासः । दृष्टान्ततः भेदं प्रदर्शयति—साध्यति । अयम्भावः—यत्र सामान्यं सामान्येन विशेषः विशेषेण समर्थ्यते स दृष्टान्तः । अत्र तु विपरीतः इत्यनयोर्भेदः ।

तत्र प्रथमं सामान्यं विशेषेणेत्यस्योदाहरणमाह—बृहदिति । क्षोदीयानपि

अर्थान्तरन्यास—

साधर्म्यं अथवा वैधर्म्यं द्वारा, सामान्यसे विशेष अथवा विशेषसे सामान्यका समर्थन अर्थान्तरन्यास कहा जाता है ।

समर्थ्य और समर्थक वाक्य द्वारा सामान्य विशेषभावाका स्थापन अर्थान्तरन्यास कहा जाता है । दृष्टान्तालंकार इस प्रकार नहीं है यही दोनोंमें भेद है ।

सामान्यका विशेषसे समर्थन जैसे—

“बड़े लोगोंकी सहायतासे छोटा भी व्यक्ति किसी कार्यके अन्त अर्थात् पार जा

सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगाऽऽपगा ॥ ७६ ॥ [माघः]
अत्र द्वितीयार्द्धगतेन विशेषेणार्थेन पूर्वार्द्धगतः सामान्योऽर्थः समर्थ्यते।
विशेषः सामान्येन यथा—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माघवः ।

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ ७७ ॥ [माघः]

अत्र द्वितीयार्द्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्द्धगतो विशेषोऽर्थः समर्थ्यते ।
वैधर्म्येण यथा—

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।

क्षुद्रोऽपि बृहत्सहायः महापुरुषादिसहाय्येन कार्यान्तं प्रारब्धस्य पारं
गच्छति । नगापगा पर्वतीयनदीमहानद्या सम्भूय मिलित्वा अम्भोधिं सागरम्
अभ्येति प्राप्नोति । अनुष्टुप् । सङ्गमयति—अत्रेति ।

विशेषः सामान्येनेत्यस्योदाहरणमाह—यावदिति । यावन्तोऽर्थाः तावन्ति पदानि
यस्यां तां यावदर्थपदां वाचम् आदाय उक्त्वा माघवः कृष्णः विरराम मौनम-
भजत् । महीयांसः महान्तः प्रकृत्या मितभाषिणो भवन्ति ।

अत्र कृष्णस्य मितभाषणरूपो विशेषार्थः । सामान्येन महीयांसः मितभाषिणः
भवन्ति इत्यनेन समर्थ्यते । अनुष्टुप् छन्दः ।

इदमुदाहरणं साधर्म्यपक्षे वैधर्म्यपक्षे उदाहर्तुं प्रक्रमते—वैधर्म्येणेति । उदाहरति—
इत्थमिति । इत्थम् अनेन प्रकारेण आराध्यमानोऽपि सेव्यमानोऽपि भुवनत्रयं
सकता है । जैसे छोटी छोटी पहाड़ी नदियां बड़ी नदियोंसे मिलकर समुद्रतक पहुंच
जाती हैं ।”

इस काव्यमें पूर्वार्धसे जो अर्थ कहा गया है उसी सामान्य अर्थका द्वितीयार्द्धगत
पादोंके अर्थसे जो एक नदीके दृष्टान्तसे समझाया गया है उसका इसी विशेष अर्थसे
समर्थन किया गया है ।

विशेषका सामान्य अर्थसे समर्थन—जैसे—

“माघव जितनेही पद उतनेही अर्थ अर्थात् संक्षिप्त भाषामें अपना विचार कहकर
चुप हो गए, क्योंकि बड़े लोग स्वभावतः मितभाषी होते हैं ।

इस कवितामें ‘प्रकृत्या मितभाषिणः’ इस सामान्य अर्थसे प्रथमार्द्धगत विशेषार्थका
समर्थन किया गया है ।

वैधर्म्यमें सामान्य द्वारा विशेषार्थका समर्थन जैसे—

“इस प्रकार सेवा पाने पर भी तारकासुर तीनलोकको कष्ट पहुंचा रहा है ।

शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ ७८ ॥ [कुमारस०]
अत्र द्वितीयार्द्धगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमार्द्धगतो विशेषोऽर्थो
वैधर्म्येण समर्थ्यते ।

तुल्ययोगिता—

‘पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।

एकाधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥’ [विश्वनाथः]

केवलं प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा एकधर्मसम्बन्धः तुल्ययोगिता । यथा—
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं

त्रिलोकी क्लिश्नाति पीडयति । दुर्जनः प्रत्यपकारेण शाम्येत् शान्तिं गच्छेत्
उपकारेण न नहि । अनुष्टुप् छन्दः ।

सङ्गमयति—अत्रेति । इदं वैधर्म्येण सामान्येन विशेषस्य समर्थनोदाहरणम् ।

विशेषेण सामान्यसमर्थनोदाहरणं तु यथा—

सहायशून्योऽपि गुणान्वितो जनो नैवानुगत्यं भजते प्रभोरपि ।

दण्डस्तरीबन्धनरश्मिसंयुतो महाप्रवाहे स्थिर एव लक्ष्यते ।

अस्यार्थः । सहायशून्योऽपि—असहायोपि गुणान्वितो जनः प्रभोरपि
स्वामिनोऽपि आनुगत्यम् अनुगमनं न भजते न करोति दण्डस्तरीबन्धनरश्मि-
संयुतः महाप्रवाहे बन्धने वद्धा नौरिव नद्याः प्रवाहे स्थिर एव लक्ष्यते प्रतीयते । अत्र
द्वितीयार्द्धगतो विशेषार्थः प्रथमार्द्धगतस्य सामान्यार्थस्य समर्थकः ।

तुल्ययोगितां लक्षयति—पदार्थेति । केवलपदमध्याहाराल्लभ्यते । यदा केवलं
प्रस्तुतानां पदार्थानाम् एकधर्माभिसम्बन्धः, अप्रस्तुतानां पदार्थानां वा एकधर्माभिस-
म्बन्धः स्यात् तदा उभयदशायां तुल्ययोगिता नामालङ्कारः स्यात् भवेदिति भावः ।
केवलप्रस्तुतविषयां तुल्ययोगितामुदाहरति—यमिति । यं हिमालयं वत्सं परि-

दुर्जनः प्रत्यकारसे शान्त होते हैं उपकारसे नहीं ।

इसमें द्वितीयार्द्धगत सामान्य अर्थसे प्रथमार्द्धगत विशेष अर्थका वैधर्म्येण समर्थन
क्रिया गया है ।

केवल प्रस्तुत (प्रकरण पठित) अथवा अप्रस्तुत पदार्थोंके एक धर्मका आरोप
(अभिसम्बन्ध) यदि हो तो तुल्ययोगिता नामका अलंकार होता है ।

उदाहरण जैसे—

“सब पर्वतोंने जिस हिमालयको बड़ड़ा, दोहन क्रियाके विशेषज्ञ मेरुको दुहने

मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदत्ते ।

भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च

पृथूपदिष्टां ददुहुर्धरित्रीम् ॥ ५६ ॥ [कुमारस०]

अत्र हिमवद्दर्शनस्य प्रकृतत्वात् तद्रतौषधिरत्नानां द्वयानामपि प्रकृतत्वम्, तेषां दोहनक्रियारूपैकसमानधर्मसम्बन्धात् औपम्यस्य गम्यत्वात् केवलप्राकरणिकविषयोऽयमलङ्कारः ।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वा-

देकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।

लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं

जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥ ८० ॥ [कुमारस०]

अत्र नागेन्द्रहस्तानां कदलीविशेषाणाञ्च द्वयानामप्यप्रस्तुतानां

कल्प्य कल्पयित्वा दोहे दक्षः तस्मिन् दोहदत्ते दोहनक्रियाकुशले मेरौ सुमेरौ स्थिते वर्तमाने सति पृथुना उपदिष्टां पृथूपदिष्टां पृथुनिर्दिष्टां धरित्रीं पृथ्वीं भास्वन्ति भासमानानि रत्नानि महौषधीश्च ददुहुः । गौर्भूत्वा तु वसुन्धरा, ताः क्षीरपरिणामिनीः, इति च विष्णुपुराणवचनं भूमेः गारुत्वे महौषधीनां दुग्धरुत्वे मानम् । उपजातिः वृत्तम् । लक्षणं संगमयति-अत्रेति ।

केवलां-प्रस्तुतविषयां तुल्ययोग्यतामुदाहरति-नागेति । नागेन्द्राणां हस्ताः नागेन्द्रहस्ताः गजेन्द्रशुण्डाः त्वचि त्वग्विषये कर्कशत्वात् कठिनत्वात्, कदलीविशेषाः एकान्तं शैत्यात् अत्यन्तजडत्वात्, हेतोः लोके परिणाहि विशालं रूपं लब्ध्वाऽपि तस्याः ऊर्वोः तदूर्वोः पार्वत्याः ऊर्वोः उपमानाबह्या उपमान बहिर्भूता जाताः सम्पन्नाः ।

अत्र अप्रस्तुतानां नागेन्द्रहस्तानां कदलीविशेषाणां च परिणाहिना रूपेण सम्बन्धात्, तुल्ययोगिता । स्वयं संगमयति-अत्रेति ।

“वाला, तथा राजा पृथुसे बताई गई पृथ्वीको गौ बनाकर देदीप्यमान रत्न और औषध रूपी दूधको दुहा था ।”

इस कवितामें प्रस्तुत हिमवानका वर्णन है तथा हिमालयके औषधों तथा रत्नोंका वर्णन भी प्रकृत है इन सबका दोहन क्रियारूपी एक धर्मके सम्बन्धसे उपमा प्रतीत होती है अतः यह केवल प्राकरणिक विषयका अलंकार हुआ ।

“नागेन्द्रोंके सूंड अत्यन्त कठोर होती है, और केलाका स्तम्भ अत्यन्त शोतल ।

परिणाहिरूपलाभक्रियायाः समानधर्मस्य सम्बन्धात् केवलाप्राकरणिकविषयकमिदमुदाहरणम् ।

दीपकम्—

‘अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते ।’ [विश्वनाथः]

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोः एकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम् ।

यथा—बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत्
प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।

सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला

पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ८१ ॥ [माघः]

दीपकं लक्षयति—अप्रस्तुतेति । अप्रस्तुतं च प्रस्तुतं चेति तयोः अप्रस्तुत प्रस्तुतयोः पदार्थयोः एकधर्माभिसम्बन्धः दीपकालङ्कारः निगद्यते कथ्यते इति । तुल्ययोगिता लक्षणस्थ एकधर्माभिसम्बन्धपदेन सम्बन्धः । अयमेव चोभयोर्भेदः । यत् तुल्ययोगितायां केवलप्रस्तुतेष्वेव केवलाप्रस्तुतेष्वेकधर्माभिसम्बन्धः नियामकः । अत्र तु प्रस्तुतेऽप्रस्तुते चेति ।

उदाहरति—बलेति । जेतुमिच्छुना जिगीषुणा तेन शिशुपालेन अधुनापि पूर्ववत् पूर्वजन्मवत् रावणादिशरीरेष्विवेत्यर्थः । बलस्यावलेऽस्तस्मात् बलदर्पात् जगत् प्रवाध्यते पीड्यते इत्यर्थः । सती योषित् पतिव्रता नायिका निश्चला निर्वाधा प्रकृतिश्च भवान्तरेष्वपि जन्मान्तरेष्वपि पुमांसं पुरुषम् अभ्येति गच्छति । पूर्वजन्मसंस्कारैरयं त-

इसीलिप् लोकमें लम्बाईमें समानता मिलने पर भी हाथीका सूंड और केला उस पार्वतीके जङ्घाके उपमान नहीं बन सके ।”

यहां पार्वतीके वर्णनमें नागेन्द्रका हस्त तथा कदली विशेषोंका अप्राकरणिक प्रवेश तथा परिवाहिरूपलाभरूपी कृपाके साथ समानधर्मता सम्बन्ध हुआ । अतः केवल अप्राकरणिक विषयका यह उदाहरण है ।

दीपक—अप्राकरणिक तथा प्राकरणिक विषयोंके एकधर्माभिसम्बन्धको दीपक अलङ्कार कहते हैं ।

उदाहरण जैसे—

“वह शिशुपाल संसार पर विजय पानेकी इच्छासे पहलेके समान आज भी संसारको कष्ट पहुँचा रहा है । क्योंकि सती पतिव्रता स्त्री और अडिग स्वभाव (प्रकृति) जन्मान्तरमें भी मनुष्यका साथ नहीं छोड़ते ।

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाः पतिव्रतायाश्च-
जन्मान्तरेऽपि स्वकीयपुरुषानुगमनरूपैकक्रियासम्बन्धः ।

अन्यरूपं दीपकम्—

‘अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्’ । [विश्वनाथः]

तदाऽपि दीपकमेव ! यथा—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा

प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।

तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो

विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥ ८२ ॥ [उत्तरच०]

यैव विक्रान्तिकरोति जगत् इति भावः। क्वचित्, सतीव योषिदिति पाठः। तत्र न दीप-
कस्य विषयः किन्त्वर्थान्तरन्यासस्य इति ।

संगमयति—अत्रेति ।

विशिष्टमन्यं दीपकं लक्षयति—अथेति। अनेकासु क्रियासु एकं कारकं चेत्
तदापि दीपकमेव । दीपयति अप्रस्तुतमपि पदार्थं बुद्धाववभासयति इति दीपकम् ।

उदाहरति—विनिश्चेतुमिति। हे सीते ! सुखमिति वा दुःखमिति वा विनिश्चेतुं
न शक्यः अशक्य इत्यर्थः । किमु प्रमोहोऽयं विकारः वा अथवा निद्रा, किमु विषवि-
सर्पः मदः वा । हि यस्मात् कारणात् तव स्पर्शे स्पर्शे प्रतिस्पर्शे मम रामस्य परिमूढः
इन्द्रियगणः येन स स्वविषयग्रहणासमर्थः इन्द्रियगणः चैतन्यम् अन्तःकरणं हृदय-
मित्यर्थः भ्रमयति क्षोभयति सम्मीलयति उल्लासयति च । केचित्तु—सम्मीलयति
इत्यस्यावृणोति इत्यर्थमपि प्राहुः । वस्तुतस्तु—अत्यन्तसुखावस्थायां दुःखावस्थायां
च इन्द्रियाणां मूढता प्रसिद्धा तत्र दुःखजनिका मूढता भ्रमयति शब्देनोक्ता यतो हि

यहां प्रस्तुत विषय निश्चलप्रकृति और अप्रस्तुत विषय सती योषित्का जन्मा-
न्तरमें भी स्वकीय पुरुषका अनुगमनरूपी एक क्रियाके द्वारा सम्बन्ध कहा गया है।
दीपकका दूसरा रूप—

अनेक क्रियाओंका यदि एक ही कारक हो तो उसे भी दीपक कहते हैं ।

उदाहरण जैसे—

“हे सीता ! तुम्हारा यह स्पर्श सुख है अथवा दुःख, प्रमोद है या निद्रा, विषका
प्रभाव है या मद, कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता है। किन्तु तुम्हारे प्रत्येक स्पर्शसे
सब इन्द्रियां मूढ़ हो जाती हैं और चैतन्यमें विकार उत्पन्न होता है और वह
चैतन्यको आन्त करता है अथवा आंख मूढ़ कर आनन्द देता है ।”

अत्र भ्रमयति सम्मीलयति चेत्युभयोः क्रिययोः कर्त्तृकारक-
मेकं विकार इति, कर्मकारकञ्चैकं चैतन्यमिति ।

सन्देहः—

‘सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।’ [विश्वनाथः]

भेदोक्तौ तदनुक्तौ च द्विधाऽसौ परिकीर्तितः ॥ [मम्मटः]

प्रकृते—उपमेये, अन्यस्य—उपमानस्य, प्रतिभा—कविप्रौढोक्तिः,
तया उत्थितः; तेन ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वा’ इति सन्देहे नायमलङ्कारः ।
भेदः—वैधर्म्यम् ।

अनिच्छन्तमपि क्षोभयति । ‘सम्मीलयति’शब्देनोक्ता च मूढता आनन्दमनुभवन्तमा-
वृणोत्येवेति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ।

लक्षणं लक्ष्ये संगमयति—अत्रेति ।

उपमानोपमेयघटितालङ्कारप्रकरणत्वात् उपमेये उपमानसंशयघटितं सन्देहालङ्कारं
लक्षयति— सन्देहइति । प्रकृते उपमेये प्रतिभोत्थितः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नः न तु
पदार्थस्वभावसिद्ध इत्यर्थः । अन्यस्य उपमानस्य संशयः सन्देहालङ्कारः भवेदित्यर्थः ।

प्रतिभोत्थित इति पदस्य प्रयोजनमाह मूले—तेन स्थाणुरिति । न चोपमेये
उपमानस्य सम्भावनं सन्देहः इत्युच्यते, तदयुक्तम् । उत्प्रेक्षयैव गतार्थत्वाद् इति
वाच्यम् । तुल्यरूपेणोभयपक्षज्ञानं संशयः । एकपक्षाधिक्येन उभयपक्षज्ञानं सम्भावना
इत्युभयोर्भेदकत्वात् । दर्पणकारोक्तान् सन्देहभेदानुक्त्वा मम्मटोक्तान् दर्शयति-
भेदोक्ताविति । भेदस्य विषयवैधर्म्यस्य उक्तौ कथने तस्य वैधर्म्यस्य अनुक्तौ च
असौ सन्देहः द्विधा द्विप्रकारः परिकीर्तित इति भावः ।

यहां ‘भ्रमयति’ और ‘सम्मीलयति’ ये दोनों क्रियाओंके लिए एक विकार रूप
कर्त्तृकारकका तथा एक चैतन्यरूप कर्मकारकका निर्देश है ।

सन्देह—

उपमेयके विषयमें उपमानकी शंका यदि कविप्रतिभासे उत्थित हो तो उसे
संशयालङ्कार कहते हैं । वह दो प्रकारका होता है । एक तो जहां उपमान और उप-
मेयमें भेद कहा गया हो और दूसरा दोनोंमें जहां भेद न कहा गया हो ।

प्रकृते = उपमेयमें, अन्यस्य = अप्रकृत अर्थात् उपमानका, प्रतिभा = कविप्र-
तिभा, कविकल्पित । अत एव “स्थाणु है या पुरुष” इस संशयमें लक्षण नहीं गया
क्योंकि यह संशय कविकल्पित नहीं है । भेदः—वैधर्म्यम् ।

भेदोक्तौ यथा—

अयं मार्तण्डः किम् ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किम् ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षात् ? महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याऽऽजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥ ८३ ॥

भेदानुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ?
चित्तोन्मान्दरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ? ।

तत्र प्रथमं वैधर्म्योक्तानुदाहरति—अयमिति । अयं मार्तण्डः सूर्यः किम् ।
नेत्याह । स मार्तण्डः खलु सप्तभिः सप्तसंख्याकैस्तुरगैः अश्वैः इतः प्रेरितः । पुनः
शंकते । कृशानुः किम् । किमयमग्निः । नेत्याह । यतः एष राजा सर्वाः दिशः नियतं
निश्चियं न प्रसरति । अग्निस्तु प्रसरति इति नाग्निः । ततः किमित्याशंकते
किं साक्षात् शरीरधारी कृतान्तः यमः । नेत्याह । यतः असौ यमः महिषः वहनं यस्य
स इति इत्थं चिरं चिरकालमाजौ संग्रामे त्वां समालोक्य प्रतिभटाः प्रत्यर्थिनो सैनिकाः
विकल्पान् विदधति कुर्वन्ति इति भावः ।

अत्र प्रथमवाक्योक्तशंकायाः द्वितीयवाक्येन निराकरणं तेन तस्मिन् मार्तण्डा-
द्यभावनिश्चय एव भवति, न तु राजनिश्चयः । सति च राजनिश्चये द्वितीयादिशङ्काया
अनुत्थानप्रसङ्गात् । अतः कुत्रापि राजनिश्चयो न वर्तते, किन्तु मार्तण्डाद् अस्य वैध-
र्म्यमेव प्रकाशितम् । तेनेदं वैधर्म्योक्तौ सन्देहस्योदाहरणम् ।

भेदानुक्तावुदाहरति—अस्येति । उर्वशीमवलोक्य वल्लभस्य पुरुरवस उक्ति-
रियम् । अस्याः उर्वश्याः सर्गविधौ निर्माणविधौ कान्तिप्रदः कान्तिप्रदाता चन्द्रः
सोमः नु किम् ? चित्तस्योन्मादे रसः यस्य स चित्तोन्मादकरणचतुरः मदनः

भेदकी उक्तिका उदाहरण जैसे—

“हे महाराज ! तुम्हें संग्राममें देखकर शत्रुगणके प्रतिद्वन्द्वी वीर यह सूर्य है क्या ?
नहीं, वह तो सात घोड़ेके रथ पर चलते हैं। फिर क्या अग्नि है ? नहीं, यह सब
दिशाओंमें ठीक प्रकारसे नहीं फैल रहा है। तब क्या यमराज है ? नहीं, वह तो
भैंसेकी सवारी करता है इस प्रकार चिरकालतक कल्पना करते हैं।”

भेदके अकथनका उदाहरण—

“इसके निर्माणके लिए कान्ति देने वाले चन्द्रमा आ, चित्तको उन्मत्त

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ?॥ द४॥ [विक्रमो०]

भ्रान्तिमान्—

‘साम्यादतस्मिस्तद्बुद्धिभ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थिता ।’ [विश्वनाथः]
प्रतिभोत्थितेति ‘शुक्तिकायां रजतम्’ इति भ्रान्तिर्नास्य अलङ्कारस्य
विषयः । यथा—

महाराज ! श्रीमन् ! जगति यशसा ते धवलिते
पथःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।

कामः स्वयं शरीरधारी नु किम् ? पुष्पाणामाकरः पुष्पाकरः मासः वसन्तः प्रजापतिः
वेधा अभूत् नु किम् ? शङ्कायां हेतुमाह—वेदस्याभ्यासेन जडः मूर्खः विषयेभ्यः
व्यावृत्तं कौतूहलं कौतुकं यस्य स पुराणो मुनिः चिरंतनो मुनिर्ब्रह्मा इदं एतादृशं मनोहरं
रूपं निर्मातुं रचयितुं कथं केन प्रकारेण प्रभवेत् प्रभुः स्यात् नु । बृद्धो ब्रह्मा
एतादृशस्य रूपस्य निर्माणे सर्वथा अयोग्य इति भावः ।

अत्र प्रथमद्वितीयपादोक्तस्य सन्देहस्य निवृत्तिर्नोक्ता अतः भेदानुक्ताप्रयुक्तोऽय-
मलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितम् ।

भ्रान्तिमदलंकारं लक्षयति—साम्येति । साम्यात्तौल्यात् अतस्मिन्नतादृशो वस्तुनि
प्रतिभोत्थिता कविप्रतिभामात्रनिबद्धाद्बुद्धिः तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रान्तिमान् नामको-
ऽलङ्कारः । तदभाववति तत्प्रकारकानुभवमात्रस्य भ्रान्तिमदलङ्कारस्य लक्षणत्वे शुक्ति-
कायां रजतमिति भ्रान्तेरपि अलङ्कारत्वं स्यात् । तन्नित्ये च प्रतिभोत्थिता इति पदो-
पादानम् । तेन न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः ।

उदाहरति—महाराजेति । हे महाराज हे श्रीमन् ! ते यशसा कीर्त्या जगति

बनाने वाले कामदेव अथवा पुष्पाकर (वसन्त) मास प्रजापति थे, क्योंकि वेदके
पढ़नेसे जड़ तथा विषयोसे जिसका कौतूहल दूर हो गया है वह पुराना मुनि ब्रह्मा
इतना मनोहर रूप कैसे बना सकता है ।”

भ्रान्तिमान्—जो वस्तु वह न हो, जिसे देखकर उसरूपमें कल्पना द्वारा
समानता मानना भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

प्रतिभोत्थिता कहनेका तात्पर्य है भ्रमनिवारणमात्रसे । “शुक्तिमें रजत” भ्रम होने
पर भी वह अलंकार नहीं होता ।

उदाहरण जैसे—

“हे श्रीमान् जी, हे महाराज जी ! जब जगत् आपके यशसे धवल हो उठा उस

कपर्दी कैलासं करिवरमथायं कुलिशभृत्

कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥ ८५ ॥ [महापद्यम्]

अत्र भोजराजस्य यशसा धवलीकृते जगति सर्वत्रापि परमपुरुषा-
ऽऽदीनां समुद्राऽऽदिभ्रान्तिः कविप्रतिभोत्थितेति भ्रान्तिमानलङ्कारः ।

अपह्नुतिः—

‘प्रकृतं प्रतिषिद्धान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।’ [विश्वनाथः]

इहापि कविप्रौढोक्तिसिद्धमेव । यथा—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।

लोके धवलिते सति अयं परमपुरुषो नारायणः पयःपारावारं दुग्धसागरं मृगयते अन्वेष-
यति । कपर्दी शिवः कैलासं पर्वतं, अथायं कुलिशं विभर्ति इति कुलिशभृदिन्द्रः करि-
वरमैरावतं, राहुः सैहिकेयः कलानां नाथं चन्द्रम्, अधुना अस्मिन् धवलिते समये कम-
लै भवनं यस्य स कमलभवनो ब्रह्मा हंसं मृगयते । शिखरिणी वृत्तम् ।

लक्ष्ये संगमयति—अत्रेति ।

अपह्नुत्यलङ्कारं लक्षयति—प्रकृतमिति । प्रकृतं वर्णनायां प्रस्तुतमुपमेयमित्यर्थः ।
प्रतिषिद्ध्य शब्दतस्तात्पर्यतो वा निवार्य अन्यस्य प्रकृतभिन्नस्य उपमानस्येत्यर्थः ।
स्थापनं स्वप्रतिभयापरोप्यस्थापनं विन्यासः अपह्नुतिनामालङ्कारः ।

स्थापनायां विशेषमाह—इहापीति । कविप्रौढोक्तिसिद्धमेवेत्यर्थः ।

उदाहरति—नेदमिति । इदं दृश्यमानं नभोमण्डलमाकाशमण्डलं न नहि किन्तु
अम्बुराशिः समुद्रः । एताः तारा न नहि किन्तु नवफेनभङ्गाः नवस्य फेनस्य भङ्गा-

समय परम पुरुष परमात्मा विष्णु अपने दुग्ध समुद्रकी खोजमें भटकने लगे, शंकर
कैलास और इन्द्र ऐरावत गज, राहु चन्द्रमा और कमलमें वास करनेवाले ब्रह्मा
अपने हंसकी खोजमें घूमने लग गए ।”

यहां भोजराजके यशसे संसारके उज्वल हो जानेपर सर्वत्र परमपुरुषादिको
समुद्र, कैलास, ऐरावत, चन्द्रमा, तथा हंसके अम कविकी प्रतिभा कल्पित कल्पना
है । अतः भ्रान्तिमानलङ्कार है ।

अपह्नुति—उपमेयका निषेधकर उपमानकी स्थापना अपह्नुति अलङ्कार है । यह
भी कविकी प्रतिभा से सिद्ध ही होता है ।

जैसे—“यह आकाश नहीं, किन्तु समुद्र है; ये तारायें नहीं, किन्तु नवीन फेन हैं;

नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥८६॥
अत्र प्रस्तुतानां नभोमण्डलाऽऽदीनां प्रतिषेधेन अम्बुराशिप्रभृती-
नामप्रस्तुतानां स्थापनम् । यथा वा—

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥ ८७ ॥ [रघु०]

अत्र प्रस्तुतानां मणीनां प्रतिषेधेन अश्रुविन्दूनां स्थापनम् ।

समासोक्तिलक्षणमुक्तमाग्नेये—

‘यत्रोक्तात् गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतया बुधैः ॥’

तत्समानविशेषण इत्युपलक्षणम्, तेन तत्समानकार्यः, तत्समान-

रच्छेदा अयं शशी चन्द्रः न किन्तुः कुण्डलितः कुण्डलाकारः फणीन्द्रः शेषः । असौ
कलङ्कः न किन्तु शयितः मुरारिः कृष्णः ।

संगमयति—अत्रेति ।

उदाहरणान्तरमाह—दशेति । तत्क्षणं रामजन्मकाले दशाननस्य रावणस्य किरी-
टेभ्यः मुकुटेभ्यः मणिव्याजेन रत्नच्छलेन राक्षसश्रियः राक्षसराजलक्ष्म्याः अश्रुवि-
न्दवः वाष्पजलकणाः पृथिव्यां भूमौ पर्यस्ताः क्षिप्ताः पतिता इत्यर्थः । अनुष्टुप् छन्दः ।

संघटयति—अत्रेति ।

समासोक्तिं लक्षयति—यत्रोक्तेति । स्वयमेव विवृणोति—तदिति । इत्युपलक्षणमिति—

यह चन्द्रमा नहीं, किन्तु शेषनाग हैं; यह कलङ्क नहीं, किन्तु मुरारि सो रहे हैं ।”

यहां प्रस्तुत नभोमण्डलादिका निषेध कर अप्रस्तुत अम्बुराशिका स्थापन किया गया है जो अपहृति है । अथवा—

“दशाननके मुकुटसे उसी क्षण मणि गिर पड़े मानो राक्षस राजकी लक्ष्मीके अश्रुविन्दु पृथिवीमें बिखर पड़े हों ।”

यहां पर प्रस्तुत मणियोंका प्रतिषेध कर उसमें अश्रुविन्दुका स्थापन किया गया है ।

अग्निपुराणमें कही हुई समासोक्तिका लक्षण—

जिस वाक्यमें कहे हुए अर्थसे अन्य अर्थमें यदि वे ही कार्य और लिङ्ग प्रतीत हों तो संचितार्थ होनेके कारण विद्वान लोग उसे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं ।

“तत् समान विशेषणः” यह पद अन्यार्थोंके भी समझने के लिए है । इससे उसके

लिङ्गश्च गृह्यते । यत्र समैर्विशेषणैः कार्यैर्लिङ्गैश्च उक्तात्—प्रस्तुतात्, अप्रस्तुताद्वा, अन्यः—यथाक्रममप्रस्तुतः, प्रस्तुतो वा, अर्थो गम्यते—बोध्यते, सा सङ्क्षेपोक्तिस्वरूपत्वात् ‘समासेन—सङ्क्षेपेण उक्तिः’ इति व्युत्पत्त्या—समासोक्तिः कथिता । सङ्क्षेपश्च एकस्य वचनेनोभयप्रतिपत्तिरिति । आदर्शै—‘अप्रस्तुतात् वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः’ इत्यभिहितम् । नव्यास्तु—तद्विपरीत्येन—‘प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिः । अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा’ इत्याहुः । ‘वाच्ये प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः समासोक्तिः’ इति विश्वनाथाऽऽदयः । वस्तुतस्तु—उभयत्रापि समासोक्तेरेवाभ्युपगमस्यौचित्या-

स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम् तेन समानविशेषण-समानकार्य-समानलिङ्गानां परिग्रहः । एतदेवस्पष्टयति—तेनेति । यत्र उक्तात् प्रस्तुताद्वा अन्यः क्रमशः प्रस्तुतादप्रस्तुतः, अप्रस्तुताच्च प्रस्तुतोऽर्थो गम्यत इत्यर्थः । सा संक्षेपार्थतया बुधैः आलङ्कारिकैः समासोक्तिरुदिता इत्यन्वयः । संक्षेपश्चेति—एकस्य प्रस्तुतस्य वचनेन कथनेनोभयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोः प्रतीतिरिति भावः । आदर्शै काव्यादर्शै दण्डिविरचिते—अप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य प्रतीयमानत्वात् समासोक्तिरित्यभिहितम् । नवीनानां मतमाह—नव्यास्तु । तद्विपरीत्येन आदर्शमतविपरीतेन दर्पणकार मतमाह—विश्वनाथादय इति । स्वमतमाह—वस्तुतस्त्विति । उभयत्रापि । अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे, प्रस्तुताद्

समानकार्य और उसके समान लिङ्गका भी संग्रह करना चाहिए । जहां समान विशेषणोंसे अर्थात् कार्य और लिङ्गोंसे उक्त प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत अर्थसे अन्य अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत अर्थ प्रतीत होता हो वह संक्षिप्त उक्ति समासोक्ति कही गई है । संक्षेप कहनेका तात्पर्य यह है कि एकके वचनसे दो प्रकारके अर्थोंकी प्राप्ति होती है । दण्डी भट्टके आदर्शमें अप्रस्तुत वाच्यसे प्रस्तुत गम्य (प्रतीयमान) को समासोक्ति कहा गया है । नवीन लोगोंने तो उसके विपरीत ही प्रस्तुतसे अप्रस्तुतार्थ प्रतीतिमें ही समासोक्ति माना है । और अप्रस्तुतसे प्रस्तुतकी प्रतीतिमें अप्रस्तुत प्रशंसा कहा है । प्रस्तुत वाच्यमें अप्रस्तुत व्यवहारका आरोप करना समासोक्ति विश्वनाथ महापात्रके मतसे है ।

वास्तवमें प्रस्तुतसे अप्रस्तुत और अप्रस्तुतसे ही प्रतीतिमें उभयका समासोक्ति मान लेना अनुचित न होगा । यही सोचकर उभयविध लक्षणोंका समन्वय

दनुगुणमेव प्राचीनरीत्या लक्षणमुक्तमस्माभिः । उदाहरणं क्रमेण—
श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।

उपवनान्तलताः पवनाऽऽहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ८८ ॥ [रघु०]

अत्र विशेषणसाम्यात् कार्यसाम्याच्च प्रस्तुताद्वनलतारूपार्थादप्रस्तु-
तो नर्तकीरूपोऽर्थः प्रतीयते ।

चातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासितः ।

सोऽपि पूरयति भूयसाऽम्भसा चित्रमत्र महतामुदारता ॥ ८९ ॥

[पूर्वचातकाष्टकम्]

वाच्यादप्रस्तुतस्य च गम्यत्वे इत्यर्थः । प्राचीनरीत्या अग्निपुराणोक्तं लक्षणमुक्तमस्माभिः ।

उदाहरति—श्रुतोति । भ्रमरस्य स्वनाः भ्रमरशब्दाः श्रुतिसुखाः ये भ्रमरस्वनास्ते
एव गीतयो यासां ताः श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः श्रवणसुखभ्रमरशब्दरूपगीतयः । कुसु-
मानीव कोमला दन्तानां रुचो दीप्तयो यासां ताः बभुः शुशुभुः । उपवनस्यान्ते याः
लताः पवनाहतैः पवनप्रेरितैः किसलयैः नवपल्लवैः कृत्वा सलयैः लयाख्यसंगीताङ्ग-
भूतकरव्यापारसहितैः पाणिभिरिव हस्तैरिव बभुः चकासिरे । द्रुतविलम्बितम् ।

अत्र लतावर्णने गीतानां रुचीनां पवनाहतानां च कार्यसाम्यात् अप्रस्तुतो नर्त-
कीरूपोऽर्थो गम्यते ।

अप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्योदाहरणमाह—चातकेति । पिपासितः सञ्जाततृष्णः चातकः
पक्षिविशेषः त्रयश्वत्वारो वा त्रिचतुरास्तान् त्रिचतुरान् पयसः कणान् पयःकणान् उद्वि-
न्दून् जलधरं मेघं याचते प्रार्थयते । सोऽपि जलधरोऽपि भूयसा अधिकेन अम्भसा
जलेन पूरयति । अत्र पूरणविषये महतां सत्त्वतां उदारता औदार्यं चित्रमाश्चर्यजनकम् ।

दृष्टिमें रखकर मैंने प्राचीनोंके ही लक्षणका आदर किया है ।

उदाहरण क्रमसे—

“कानको सुख पहुंचानेवाले भ्रमर स्वनरूपी गीत, कुसुमरूपी कोमलदन्तकी
कान्तिसे उपवनकी लताएं, वायुसे संचालित राग तथा आलापमें काम आनेवाले
किसलयरूपी दांतोंसे अत्यधिक शोभा प्राप्त कर रहीं थीं ।”

यहां पर विशेषण तथा कार्यके समान होनेके कारण प्रस्तुत वनलतारूप अर्थसे
अप्रस्तुत नर्तकीरूप अर्थ प्रतीत होता है ।

“चातक पिपासासे पीड़ित होकर मेघसे तीन या चार जलकणकी याचना
करता है, किन्तु आश्चर्य है कि वह (मेघ) अधिक जलसे उसे पूर्ण कर देता है ।
यही बड़ोंकी उदारता है ।”

अत्र अप्रस्तुताच्चातकाज्जलधराच्च कार्यसाम्यात् प्रस्तुतो
याचकः, उदाराऽऽशयो धनपतिश्च बोध्यते ।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

‘अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ।

तन्मुखेन प्रस्तुतस्य निन्दा यत्र प्रतीयते ॥’ [दण्डी]

अप्रक्रान्तेषु—अप्रस्तुतेषु, अप्रस्तुतानामित्यर्थः [षष्ठ्यर्थे सप्तमी] ।

यथा—

पादाऽऽहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ ६० ॥ [माघः]

अत्र अप्रस्तुतस्य रजसः प्रशंसामुखेन प्रस्तुतस्य अपमानसहिष्णो-
निन्दा प्रतीयते । यथा वा—

संगमयति—अत्रेति ।

अप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति—अप्रस्तुतेति । या प्रक्रान्तेषु अप्रस्तुतविषयेषु स्तुतिः
स्तवनं तन्मुखेन तद्वारा यत्र वर्णने प्रस्तुतस्य प्रक्रान्तस्य निन्दा प्रतीयते सा अप्रस्तुत-
प्रशंसा नामालङ्कारः ।

उदाहरति—पादेति । यद् रजः पादेनाहतं चारणताडितं मूर्धानमारोहति, तद्
रजः अपमानेऽपि तिरस्कारेऽपि स्वस्थादेव शान्तादेव देहिनः पुरुषाद् वरं श्रेष्ठम् ।

संगमयति—अत्रेति ।

— यहाँ अप्रस्तुत चातक तथा जलधरके कार्यसाम्यसे प्रस्तुत याचक तथा उदारा-
शय धनपतिका बोध कराया गया है ।

अप्रस्तुत-प्रशंसा—

अप्रस्तुत वस्तुकी प्रशंसा इस प्रकारकी जाय जिससे प्रस्तुतकी उसी मुखसे
निन्दा की प्रतीति होती रहे ।

प्रक्रान्तेषु—अप्रस्तुतसे, यहाँ षष्ठीके अर्थमें सप्तमीका पाठ है ।

उदाहरण जैसे—

“पैरके आघात पड़ते ही जो उठकर शिर पर चढ़ जाती है वह धूलि उन शरीर
घारियोंसे कही अच्छी है जो अपमान सहकर भी शान्त रहते हैं ।”

यहाँ अप्रस्तुत धूलिकी प्रशंसाके द्वारा प्रस्तुत अपमान सहन करनेवालेकी निन्दाकी
प्रतीति होती है ।

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः

अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुराऽऽदिभिः ॥ ६१ ॥

अत्र मृगाणां सुखजीवनस्याप्रस्तुतस्य प्रशंसया प्रस्तुतस्य राजा-
नुवृत्तिजीवनस्य निन्दा प्रतीयते ।

व्याजस्तुतिः—

‘व्याजस्तुतिमुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।’ [मम्मटः]

मुखे—आपाततः, अन्यथा—यथाक्रमं स्तुत्यां निन्दायां वा,
रूढिः—पर्यवसानम् । स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा, निन्दापर्यवसा-
यिनी स्तुतिश्च व्याजस्तुतिरिति फलितम् । निन्दायाः स्तुतिरूपेण
पर्यवसाने व्याजेन स्तुतिरिति व्याजस्तुतिः, स्तुतेर्निन्दारूपेण पर्य-

उदाहरणान्तरं दर्शयति—सुखमिति । वनेषु अरण्येषु परमन्थं न सेवन्ते ये ते
अपरसेविनः हरिणाः मृगाः सुखं सुखेन, अयत्नेन सुलभैः अपरिश्रमप्राप्तैः तृणैश्च
दर्भाङ्कुरादिश्च तैः अन्नैः भोजनैः जीवन्ति ।

संगमयति—अत्रेति ।

व्याजस्तुतिं लक्षयति—व्याजेति । मुखेन आदौ निन्दा अन्यथा रूढिः रोहमाणा
स्तुतिः प्रशंसा एवं मुखे स्तुतिः अन्यथा निन्दा यत्र आरोहति सा व्याजस्तुतिः ।
एतदेवस्फुटयति—स्तुतिपर्यवसायिनीति । फलितमित्यनेन ।

अथवा जैसे—

“दूसरोंकी सेवा न करनेवाले हरिण भी वनोंमें सुखसे जीवित हैं और बिना
किसी प्रयत्नके अन्न (भोजन) दर्भाङ्कुरादि प्राप्त कर लेते हैं ।”

यहांपर मृगोंका सुखपूर्वक जीवन अप्रस्तुतकी प्रशंसाके द्वारा प्रस्तुत राजाकी
सेवा द्वारा जीवनयापन करनेवालेकी निन्दा प्रतीत हो रही है ।

व्याजस्तुति—

“मुखमें निन्दा या स्तुति हो किन्तु अर्थ उसके विपरीत अर्थात् निन्दासे स्तुति
तथा स्तुतिसे निन्दा प्रतीत होती हो तो व्याजस्तुति है ।”

मुखे=आपाततः देखनेसे, अन्यथा स्तुतिसे निन्दा और निन्दासे स्तुति ।
उसका पर्यवसान विपरीत ही अर्थमें होता हो । अर्थात् स्तुतिमें परिणत
होनेवाली निन्दा, और निन्दामें परिणत होनेवाली स्तुति । जहांपर निन्दय स्तुति
रूप बनती हो वहां “व्याजेन स्तुतिः” इति प्रकार व्याजस्तुति शब्दकी व्याख्या
समझनी चाहिए । इसी प्रकार जहां स्तुति निन्दा रूपमें परिणत हो जाय वहां

वसाने व्याजरूपा स्तुतिः । क्रमेण यथा—

त्यक्त्वा राज्यं गिरमनुसरन् स्त्रीवशान्मूढबुद्धे
राज्ञो भ्रान्त्वा गहनविपिने हारयन् मुग्धकान्ताम् ।
सख्यं बद्ध्वा कपिभिरसमं लङ्घयन् कीर्त्तिमग्रथां
पूर्वेषां चो विलयमनयो हेमलङ्कां किमेतत् ? ॥ ६२ ॥

अत्र स्त्रीवशवर्त्तिनो मूढधियो नरपतेर्वचनप्रतिपालनं, पूर्वेषां सगरसुतानां कीर्त्तिलङ्घनाऽऽदिकञ्चाऽऽपाततो निन्देव प्रतिभाति, चरमे तु पितुः प्रतिज्ञा संरक्षिता, दुस्तरं तोयनिधिमुत्तीर्य दुःसहप्रतापो वनिताऽपहारी दशाऽऽननो विजितः, समूलमुन्मूलितश्चेत्यहो ! दुष्करं कृतमिति सर्वमेव स्तुत्यां पर्यवस्यतीति निन्दायाः स्तुतिरूपेण पर्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

निन्दामुखेन व्याजस्तुतेरुदाहरणमाह—त्यक्त्वेति । हे राम ! स्त्रीवशात् कैकयीरूप-स्त्रीवशान् मूढबुद्धेः नष्टमतेः राज्ञः दशरथस्य गिरं वचनमनुसरन् मानयन् राज्यं त्यक्त्वा राज्यं परित्यज्य गहनविपिने घोरारण्ये मुग्धकान्तां सीतां हारयन् चोरयन् कपिभिः वानरैः समं सार्धमसमामसमानां सख्यं मैत्रीं बद्ध्वा कृत्वा वः पूर्वेषां सगरपुत्रादीनाम् अप्रथां मुख्यां कीर्त्तिं समुद्ररूपां लङ्घयन् लङ्घित्वा हेमनः लङ्कातां सुवर्णनिर्मितां लङ्कां विलयं नाशम् अनयः प्रापय एतत् किम् ? ।

लक्ष्ये संगमयति—अत्रेति । निष्कर्षमाह—निन्दायाः स्तुतिरूप इति ।

“व्याजरूपा स्तुतिः, व्याज-स्तुतिः” कहना चाहिए । क्रमसे उदाहरण—

“स्त्रीके वशमें रहनेवाले मूर्ख राजाके कहनेसे राज्य छोड़कर पर्वतोंकी खाक छानते रहे । घोर वनमें घूमकर भोली-भाली स्त्री भी खो बैठे, वानरोंके साथ मित्रता की, अपने पूर्वजोंकी अलंघनीय कीर्तिका उल्लंघन किया और सोनेकी बनी हुई लङ्काका नाश करके तुमने यह सब क्या किया ।”

यहां स्त्रीके वशमें रहनेवाले मूर्ख राजाके वचनको पालना, अपने पूर्वज सगरके सुतोंकी कीर्तिका लङ्घन आदि मोटी दृष्टिसे निन्दा ही प्रतीत होती है । किन्तु अन्तमें पिताकी प्रतिज्ञाकी रक्षाकी, दुस्तर सागर का पार करना, अधिक तेजस्वी और स्त्रीके अपहरणकर्ता दशाननपर विजय पाना, और उसे समूल नष्टकर देना, यह सब तुमने दुष्कर कर्म किया । इस प्रकार सब प्रशंसामें ही पर्यवसान हो जाता है । अत एव यह निन्दा स्तुतिरूपमें परिणत हो गई । अतः व्याजस्तुति नामका अलंकार है ।

युक्तं तवैतत् रघुवंशभूपते !

सतां हि सख्युः परिपालनं व्रतम् ।

इतः स्तुतिः का जगदीश ! निर्मला

भवान् यदर्थं न्यवधीन्निरागसम् ? ॥ ६४ ॥

अत्र प्रियबन्धोः संरक्षणमुचितमिति तव सुग्रीवसहायत्वं युक्तमे-
वेत्यापाततः स्तुतिरपि, मित्रकार्यार्थं निरपराधस्य जार्णकलेत्रस्य
शाखामृगस्य मे हननं सर्वथा गहितमेवेति चरमे निन्दायां पर्यवस्य-
तीति स्तुतेर्निन्दायां पर्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

प्रतीपम्—

‘प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥’ [विश्वनाथः]

स्तुतेः निन्दापर्यवसायित्वे उदाहरणमाह—युक्तमिति । हे रघुवंशभूपते ! तव
भवतः एतत् इदं युक्तं युक्ततरं, हि यस्मात् सख्युः मित्रस्य परिपालनं रक्षणं सतां
सज्जनानां व्रतम् । हे जगदीश ! भवान् यदर्थं मित्रार्थं निरागसं निरपराधं न्यवधीत्
जघान इतः अस्मादधिका निर्मला पवित्रा स्तुतिः प्रशंसा का, न कापीत्यर्थः । उपजा-
तिर्वृत्तम् ।

लक्ष्ये संगमयति—अत्रेति ।

प्रतीपं लक्षयति—प्रसिद्धेति । प्रसिद्धस्य ख्यातस्य उपमानस्य उपमेयत्वेन प्र-
कल्पनं निष्फलत्वाभिधानं निष्फलत्वकथनं वा प्रतीपमिति कथ्यते उच्यते ।

“हे रघुवंशके राजा ! यह बात ठीक ही है कि मित्रताका परिपालन सज्जनोंको
करना चाहिए । किन्तु हे जगदीश ! इससे कौन—सी निर्मल कीर्ति है ? जिसके
लिए निरपराधी मुझ—जैसे व्यक्तिको तुमने मार डाला ।”

यहां प्रिय मित्रका संरक्षण उचित है इसलिए सुग्रीवके साथ तुम्हारी मित्रता तो
ठीक है, किन्तु मित्रके कार्यके लिए निरपराध बूढ़े इस शाखामृग (वानर) का वध
करके निन्दित कर्म ही किया है । इस प्रकार अन्तमें निन्दामें ही पर्यवसान हो जाता
है । अतः स्तुतिको निन्दामें परिणत करनेवाली यह व्याजस्तुति है ।

प्रतीप—

प्रसिद्ध उपमानको उपमेय बना देना अथवा उसको निष्फल बना देना ही प्रती-
पालकार कहा गया है ।

क्रमेण यथा—

यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायाऽनुकारी शशी ।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥ ६४ ॥ [महाना०]
मुखं यदि किमिन्दुना ? यदि चलाञ्चले लोचने
किमुत्पलकदम्बकैः ? यदि तरङ्गभङ्गी भ्रुवौ ।

उपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनरूपं प्रतीपमुदाहरति—यदिति । हे प्रिये ! यत् तव नेत्रयोः समाना कान्तिर्यस्य तत् इन्दीवरं नीलोत्पलं तत् सलिले जले मग्नं विनष्टम् । तव मुखस्य छायामनुकरोति इति मुखच्छायानुकारी शशी चन्द्रः सोऽपि मेघैः पयोधरैः अन्तरितः तिरोहितः । येऽपि तवगमनमनुसरति गतिर्येषां ते त्वद्गमनानुसारिगतयः राजहंसा गताः पलयिताः । तव सादृश्यस्य विनोदमात्रम् अपि दैवेनादृष्टेन न क्षम्यते न सह्यते ।

अत्र प्रसिद्धानामुपमानानामिन्दीवरचन्द्रादीनामुपमेयत्वं मुखस्य चोपमानत्वं प्रकल्पितमिति उपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनरूपप्रतीपालङ्कारः ।

उपमानस्य निष्फलत्वकथनरूपं प्रतीपमुदाहरति—मुखमिति । सीतामवलोक्य रावणस्योक्तिरियम् । यदि मुखं वर्तते इति शेषः । मुखस्य वर्तमानतादशायां इन्दुना चन्द्रमसा किं ? न किमपिप्रयोजनमित्यर्थः । यदि चले अञ्चले ययोस्ते चलाञ्चले चञ्चलप्रान्ते लोचने नयने वर्तते तदा उत्पलानां नीलकमलानां कदम्बकैः संघैः किं ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । नयने एव नीलोत्पलजनितशोभाजनके इत्यर्थः । यदि तरङ्गस्येव भङ्गिः कौटिल्यं ययोस्तौ तरङ्गभङ्गीरूपौ भ्रुवौ वर्तते तदा आत्मनि भवः आत्मभव-

क्रमसे उदाहरण, जैसे—

“हे प्रिये ! जो तुम्हारे नेत्रोंकी कान्तिके समान इन्दीवर कमल था वह पानीमें डूब गया, जो मुखकी छायाका अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा था वह भी मेघोंके बीच छिपा पड़ा है । जो तुम्हारे गमनका अनुसरण करनेवाले राजहंस थे वे भी मानसरोवर चले गए, ऐसा ज्ञात होता है कि तुम्हारी तरह जो कुछ विनोदमात्रके लिए भी था दुर्दैव वह भी नहीं सहन करना चाहता ।”

“यदि मुख है तो चन्द्रमासे क्या प्रयोजन ? यदि चञ्चल अपांगवाले नेत्र हैं तो कमलके समूहोंसे क्या प्रयोजन ? यहि तरङ्गके समान कुटिल भौहें हैं तो कामदेवके

किमात्मभवधन्वना ? यदि सुसंयताः कुन्तलाः
किमम्बुवहडम्बरैः ? यदि तनूरियं किं श्रिया ? ॥ ६५ ॥ [मीरच०]
प्रथमे प्रसिद्धानामुपमावस्तूनामिन्दीवराऽऽदीनामुपमेयत्वप्रकल्प-
नम् , द्वितीये इन्दुप्रभृतीनां निष्फलत्वकथनम् ।

अर्थ-श्लेषः—

‘शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ।’ [विश्वनाथः]
स्वभावादेकार्थैरिति शब्दश्लेषात् , वाचनमिति च ध्वनेर्व्यव-
च्छेदः । यथा—

स्तस्य धनुस्तेन आत्मभवधन्वना कामाङ्घ्रेण किं ? न किमपि प्रयोजनम् । सीतायाः
भ्रुवावेव कामाङ्घ्रकार्यं निर्वतयिष्यतः । यदि सुसंयताः सम्यग्बद्धाः कुन्तलाः केशाः
वर्तन्ते तदा अम्बुवाहानां मेघानां डम्बरैः समूहैः किं ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । यदि
इयं सीतायाः पुरोवर्तमाना तनूः शरीरम् तदा श्रिया लक्ष्म्या शोभया वा किं ? न किमपि
प्रयोजनम् । सीतां निर्माय एतेषां वैयर्थ्यमुत्पादितं ब्रह्मणा इति भावः । पृथ्वी वृत्तम् ।

अत्र प्रसिद्धानामुपमावस्तूनां निष्फलत्वप्रतिपादनम् । स्वयं संगमयति लक्ष्म्ये-
प्रथम इति । प्रसिद्धानामुपमावस्तूनामिन्दीवरादीनामुपमेयत्वप्रकल्पनम् । इति प्रथमो
दाहरणो । द्वितीये च प्रसिद्धानामिन्दुत्पलकदम्बकादीनामुपमानानां निष्फलत्वप्रतिपा-
दनमिति योजना इति ।

अलङ्कारप्रस्तावनायां शब्दालङ्कारार्थालङ्कारभेदेनालङ्काराणां द्वैविध्यं प्रदर्शितं
तथा श्लेषालङ्कारस्योभयविधत्वात् उभयत्र लक्षणम् । तत्र अर्थालङ्कारेषु प्रथमुपमानो-
पमेयस्यैव प्राधान्यान्निरूपणम् । ततः अवसरप्राप्तौ उपमानोपमेयकल्पनायां सहाय-
कस्यार्थश्लेषस्य लक्षणमाह—शब्दैरिति । स्वभावात् अभिधाशक्या स्वभावतः एकार्थैः

धनुष व्यर्थ हैं । यदि सुन्दर सुबद्ध केश हैं तो मेव समूहोंका क्या प्रयोजन और यदि
यह शरीर है तो लक्ष्मीकी क्या आवश्यकता है ।”

यहां पूर्व कवितामें प्रसिद्ध उपमावाचक वस्तु इन्दीवरादिकोंका उपमेय कल्पना,
तथा दूसरेमें इन्दु (चन्द्रमा) आदिका निष्फलत्वप्रतिपादन प्रतीपालङ्कारका विषय है ।

श्लेष—

अनेकार्थक शब्द जहां एक अर्थमें स्वभावतः प्रयुक्त हो गए हों उसके बाद
अन्यार्थकी प्रतीतिको श्लेष कहते हैं । “स्वभावादेकार्थैः” पदसे शब्दश्लेषका, विभाजन,
और ‘वाचनम्’ इस पदसे ध्वनिका व्यावर्तन मात्र प्रयोजन है ।

खलस्य कण्टकस्येव द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानहा वक्त्रभङ्गो दूरतो वा विवर्जनम् ॥ ६६ ॥

सहोक्तिः—

‘सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।’

यथा—पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्वसा ।
तद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति काश्यं यशसा समं वपुः ॥६७॥

एकमात्रार्थप्रतिपादकैः शब्दैः अनेकार्थस्य वाचनं कथनं न तु व्यङ्ग्यं श्लेषः श्लेष-
बालङ्कारः ।

उदाहरति—खलेति । कण्टकस्येव खलस्य दुर्जनस्य द्विविधैव प्रतिक्रिया प्रती-
कारः भवितुमर्हति इति शेषः । उपानहा पादत्राणेन वक्त्रस्य मुखस्य भङ्गघोटनं वा
अथवा दूरतः विसर्जनम् त्यागः ।

अत्र वक्त्रभङ्गपदे वक्त्रस्य मुखस्य कण्टकाग्रभागरूपस्य मुखस्य च संग्रहस्तेना-
त्रोपमामूलं श्लेषः ।

अथ सहोक्तिं लक्षयति—सेति । सहार्थस्य सहार्थवाचकस्य सममित्यादेः पद्य
बलात् सामर्थ्यात् एकं पदं द्विवाचकं द्व्यर्थाभिधानसमर्थं भवेत् सा सहोक्तिरलङ्कारः ।

उदाहरति—पुरोपैति । हे नृप•यत् प्रसिद्धमेतद् पुरोवर्ति शरीरम् द्विजातिभ्यः
शेषेणावशि नान्वसा अन्नेन पुरा प्रथमं रमणीयस्य भावः रामणीयकं सौन्दर्यं पुष्टिं
चोपनीतं प्रापितमद्य अधुना वन्यफलमश्नाति इति वन्यफलाशी तस्य वन्यफलाशिनः

उदाहरण जैसे—

“दुष्टकी कण्टकके समान दो प्रकारकी ही प्रतिक्रियाहै या तो उसका जूतेसे मुख
तोड़ दे या दूरसे ही छोड़ दे ।”

यहां ‘वक्त्रभंग’ शब्दसे मुख तोड़ना दवा करके या पीट करके दोनों अर्थ दोनोंके
लिए उपयुक्त निकल आता है ।

वह सहोक्ति अलङ्कार है जहां एक ही शब्द ‘सह’ शब्दार्थके बलसे दो अर्थोंका
वाचक होता है । जैसे—

“हे नृप ! जो शरीर द्विजातियोंसे बचे हुए अन्नसे पहले हृष्ट पुष्ट बना था, वही
तुम्हारा शरीर आज वनके कन्द, मूल, फलके भोजनसे भी यशके साथ अत्यन्त क्षीण
होता जा रहा है ।”

अत्र वपुर्यशश्चोभयमपि क्षीयते इति सहार्थबलाद्बोध्यते ।

काव्यलिङ्गम्—

‘हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् ॥ [विश्वनाथः]

वाक्यस्य पदार्थस्य वा हेतुरूपेणोक्तौ काव्यलिङ्गम् । यथा—

रे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य

जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणाम् ।

रामस्य गात्रमसि दुर्भरगर्भखिन्न-

सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥६८॥ [उत्तररामच०]

अत्र करुणाया अभावे ‘रामस्य गात्रमसि’ इति वाक्यम्, ‘दुर्भरगर्भखिन्नसीताप्रवासनपटोः’ इति पदार्थश्च हेतुः ।

विभावना—

‘विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।’ [विश्वनाथः]

स्ते तत् प्रसिद्धं ते तत्र वपुः शरीरं यशसा कीर्त्या समं सहैव परमत्यन्तं कार्यं कृशता मत्पीयस्त्वं च परैति प्राप्नोति अपचीयते चेत्यर्थः ।

काव्यलिङ्गं लक्षयति—हेतोरिति । अर्थविशेषं प्रति वाक्यस्यार्थः पदार्थो वा यदि हेतुर्भवति तदा काव्यलिङ्गमलङ्कार उदाहृत इत्यर्थः ।

उदाहरति—रे इति । रे दक्षिणहस्त ! मृतस्य मृत्युभावं प्राप्तस्य द्विजस्य ब्राह्मणस्य शिशोर्बालकस्य जीवातवे जीवनहेतवे शूद्रमुनौ शम्बूके कृपाणाम् असि विसृज पातय । दुर्भरः दुर्बहो यो गर्भस्तेन खिन्नायाः पीडितायाः सीतायाः विवासने पटोः चतुरस्य रामस्य दुःसाहसकर्तुः गात्रं शरीरमसि ते, करुणा कुतः कस्माद् अस्ति । लक्ष्ये संगमति—अत्रेति ।

विभावनां लक्षयति—विभावनेति । यत् हेतुं कारणं विना कार्योत्पत्तिः कार्यो-

यहां शरीर तथा यश दोनों साथ ही साथ क्षीण होते जा रहे हैं ।

काव्यलिङ्ग—

वाक्यार्थ या पदार्थ जहां हेतुरूपेण कहा गया हो उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं । जैसे—

“हे दक्षिण हस्त मरे हुए ब्राह्मणबालकके प्राणदानके लिए शूद्रमुनि (शम्बूक) पर कृपाण छोड़ो ! तुम राम के बाहु हो, तुमने अत्यन्त आसन्नप्रसवा सीताको घरसे निकाल दिया है तुम्हें करुणा कहांसे आरही है ।”

यहां करुणाके अभावमें “रामके शरीर हो” यह वाक्य और “आसन्नप्रसवा सीता को निकालनेमें समर्थ” यह पदार्थ कारण है अर्थात् सीताके निकालनेमें समर्थ राममें करुणाका अभाव स्वतःसिद्ध है ।

विभावना—हेतु (कारण) के विना कार्यकी उत्पत्तिको विभावना कहते हैं । जैसे—

यथा—अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।

अतर्कितोपपन्नं चो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥ ६६ ॥ [कुमारस०]

अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलरूपकार्ययोर-
भिधानम् ।

विशेषोक्तिः

‘सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः, त्रिधा च सा ।

त्पाद उच्यते सा विभावना इत्यर्थः ।

उदाहरति—अपेति । वः युस्माकं दर्शनं साक्षात्कारो मे अपगतः मेघानामुदयः
यत्र तदपमेघोदयं मेघोदयं विना वर्षं वृष्टिः, न दृष्टं कुसुमं पुष्पं यत्र तत् अदृष्टपुष्पं
फलम् इव अतर्कितं यथा स्यात्तथोपपन्नमतर्कितोपपन्नमसम्भावितागतमिव
प्रतिभाति प्रतीयते ।

अत्र वृष्टिं प्रति मेघोदयो हेतुः, फलं प्रति कुसुमोद्गमः कारणम् किन्तु कारणा-
भावेऽपि वृष्ट्यादिरूपकार्यस्योत्पत्तिवर्णनं विभावनालङ्कारस्य विषय इति भावः ॥

यथा वा—

“अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ । अभूषणमनोहारि वपुर्भाति मृगीदृशः ॥”

अस्यार्थः—मृगीदृशः मृगनयनायाः अनायासेनापरिश्रमेणकृशं दुर्बलं मध्यं मध्य-
भागः कटिरित्यर्थः । अशङ्कया तरले चञ्चले दृशौ नेत्रे न भूषणमभूषणं भूषणरहितमपि
मनोहारि सुन्दरम् वपुः भाति शोभते ।

अत्रापि कृशत्वं प्रति आयासः कारणम् आयासाभावेपि कृशत्वप्रतिपादनम्
कारणाभावे कार्योत्पादरूपा विभावना इत्यर्थः ।

विशेषोक्तिं लक्षयति—सतीति । हेतौ कारणे विद्यमाने फलाभावः कार्यानुत्पादः
विशेषोक्तिः ।

“आपका विना तर्कके प्राप्त दर्शन विना मेघकी वृष्टि, विना कुसुमके फलके
समान मुझे जान पड़ता है ॥”

यहां मेघोदय और कुसुमरूप कारणोंके अभावमें भी वर्षा और फलरूप कार्यका
होना विभावना है ।

विशेषोक्ति—

हेतु (कारण) के रहते कार्यका न होना विशेषोक्ति अलङ्कार है ।

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्याप्यचिन्त्यत्वे च कुत्रचित् ॥'

उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता चेति सा त्रिधा ।
क्रमेण यथा—

धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥ १०१ ॥

अत्र धनाऽऽदिरूपहेतुसत्त्वेऽपि उन्मादाऽऽदिरूपफलाभावः, महामहिमशालित्वञ्चात्र निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे निमित्तमनुक्तं भवति ।

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमाऽऽयुधः ।

सा च त्रिधा निमित्तस्योक्ति अनुक्त्योः कुत्रचित् अचिन्त्यत्वेऽपि च भवतीति शेषः । उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता चेत्यर्थः ।

क्रमेणोदाहरति—धनिनोऽपीति । ते महता महिम्ना शालन्ते तच्छीला महाप्रभावन्तः धनिनोऽपि निरुन्मादा उन्मादरहिताः युवानः युवका अपि चञ्चलाः चञ्चलस्वभावाः न नहि । प्रभवः समर्था अपि अप्रमत्ताः प्रमादरहिताः भवन्ति ।

अत्र उन्मादकारणस्य धनादेः सत्त्वेऽपि नोन्मादादिरूपफलोत्पत्तिरिति कारणसत्त्वे कार्याभावरूपा विशेषोक्तिः । अत्र महामहिमशालित्वरूपं निमित्तमुक्तम् ।

अनुक्तनिमित्तमुदाहरति—अत्रैवेति । उपरितने श्लोक एव चतुर्थपादे महामहिमशालिन इत्यस्य स्थाने "कियन्तः सन्ति भूतले" इति पदस्य पाठे निमित्तमनुक्तं भवति तेनात्रानुक्तनिमित्तता शेषा इत्यर्थः

अचिन्त्यनिमित्तमुदाहरति—सेति । स प्रसिद्धः कुसुमम् आयुधं यस्य स कुसु-

वह उक्तनिमित्ता, अनुक्त-निमित्ता और अचिन्त्य-निमित्ताके भेदसे तीन प्रकारकी होती है । उक्तनिमित्ता जैसे—

“जो महान पुरुष होते हैं वे धनिक होते हुए भी उन्मादरहित, युवा होते हुए भी शान्त और प्रभु होते हुए भी अप्रमादी होते हैं ।”

यहां धनादि कारणोंके रहते हुए भी उन्मादादि रूप फलका अभाव वर्णित है और महामहिमशालित्वरूप निमित्त भी कहा गया है । अतः उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है । इसी श्लोकके चतुर्थपादके स्थानमें यदि “कियन्तः सन्ति भूतले” पद दिया जाय तो अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति हो जाती है ।

अचिन्त्यनिमित्ता—

“वह अकेला ही कुसुमायुध (कामदेव) तीन लोकपर विजय किए हुआ है ।

११ का० दी०

हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हतम् ॥ १०१ ॥

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् ।

विरोधः—

‘विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।’ [मम्मटः]

वस्तुतोऽविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव धर्मयोर्यदभिधानं, स विरोधः ।
अयमेव विरोधाऽऽभास इत्यण्युच्यते । व्यधिकरणयोरिव धर्मयोः
सामानाधिकरण्येन निदर्शो विरोधः । धर्मश्चात्र जातिगुणक्रिया-
द्रव्यरूपः ।

मायुधः कामः एकः असाहायस्त्रीणि जग्मन्ति त्रिलोकं जयति वशीकरोति । यस्य
कामस्य तनुं शरीरं हरता नाशयता अपि शम्भुना हरेण बलं सामर्थ्यं न हतम्
नापहतमित्यर्थः ।

अत्र बलनाशं प्रति शरीरनाशः कारणं शरीराभावे गुणरूपस्य बलस्य अवस्था-
नाभावात् । किन्तु अत्र शरीरनाशरूपकारणसत्त्वेऽपि बलाभावरूपस्य कार्यस्य अनुत्पाद
इति विशेषोक्तिः । अत्र किं कारणं येन बलं न हतम् इति अचिन्त्यनिमित्तताऽस्य ।

अनुक्तनिमित्तत्वे—अचिन्त्यनिमित्तत्वे चायमेव भेदः यत् निमित्तस्य सत्त्वेऽपि
कथनम् अनुक्तनिमित्तत्वे, अत्र तु बहुशः अनुसन्धाने निमित्तस्य असत्त्वमेव ।

विरोधालङ्कारं लक्षयति—विरोधे इति । अविरोधेऽपि यद् वचः वचनं विरुद्ध-
त्वेन भासते प्रतीयते स विरोधः विरोधालङ्कार इत्यर्थः । व्यधिकरणयोः भिन्नस्थानव
र्तिनोः अपि धर्मयोः जातिगुणक्रियाद्रव्यादिरूपयोः सामानाधिकरण्येन एकदेशवृत्तित्वेन
निर्देशः कथनं विरोधः ।

जिसके शरीरको नष्ट करते हुए भी भगवान् शङ्कर उसके बलका हरण नहीं कर सके ।’

यहां शरीर हरण कर लेने पर भी बल हरण न कर सकनेमें निमित्त अचिन्त्य है ।

विरोध—

विरोध उसे कहते हैं जो अविरोध रहने पर भी विरुद्धकी तरह ज्ञात होता हो ।

वास्तवमें अविरोध रहने पर भी जो विरुद्धकी तरह प्रतीत हो उसे विरोध कहते
हैं । इसीको विरोधाभासभी कहते हैं । व्यधिकरणके समान ज्ञात होनेवाले शब्दोंका
समानाधिकरणत्वेन निर्देश ही विरोध है । यहां धर्म शब्दसे जाति, गुण, क्रिया और
द्रव्य समझना चाहिये ।

उदाहरणम्—

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।

स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तं व ? ॥ १०२ ॥ [रघु०]

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।

जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ १०३ ॥ [कुमारस०]

प्रथमे भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वादापाततः प्रतीयमानस्य विरोधस्य समाधानम् । द्वितीये नञ् तत्पुरुषसमासे विरोधः, बहुव्रीहिणा परिहारः ।

उदाहरति—अजस्येति । न जायते इत्यजस्तस्य अजस्य जन्म गृह्णतः निरीहस्य निश्चेष्टस्य हतद्विषः शत्रुसंहारकस्य स्वपतः शयनं कुर्वतः जागरूकस्य तव भवतः याथार्थ्यं कः वेद को जानाति ? ।

अत्र जन्मग्रहणकर्तुः अजत्वमसिद्धमिति विरोधः प्रतिभासते किन्तु अजन्मापि भवान् कच्छपादिरूपेण जन्म गृह्णाति इति न विरोधः इति भावः । अयमापाततः प्रतीयमानस्य विरोधस्योदाहरणम् ।

समासभेदेन प्रतीयमानस्य विरोधस्योदाहरणमाह—जगदिति । ब्रह्मणः स्तुतिरियम् । त्वं भवान् जगतां लोकानां योनिः उत्पत्तिस्थानम् न योनिः उत्पत्तिर्यस्मात् स अयोनि इति विरोधः । नास्ति योनिः कारणं यस्य स अयोनिः अकारणः इति परिहारः । जगदुत्पादकस्य सर्वसमर्थत्वात् । जगतान्तः नःशः इति जगदन्तः अपि निरन्तकः अन्तकभिन्नः इति विरोधः, नास्ति अन्तकः (मुत्युः) यस्येति परिहारः । जगतामादिः सन्नपि आदौ नासीदित्यनादिः इति विरोधः । नास्ति आदिः कारणं यस्य स अकारणः इति परिहारः । जगतामीशः अग्नि निः ईश्वर ईश्वरभिन्न इति विरोधः ।

उदाहरणम्—

“तुम अजन्मा हो फिर भी जन्म लेते हो, चेष्टा नहीं करते किन्तु शत्रुओंके संहारक हो, निरन्तर सोते रहते हो तथापि जागरूक हो; तुमारी वास्तविकता कौन जान सकता है ? ।”

“तुम जगत्के उत्पादक हो और स्वयं उत्पन्न नहीं हुए हो, जगत्का अन्त करते हो किन्तु तुम्हारा अन्त नहीं है । जगत्के आदि कारण हो किन्तु तुम अनादि हो, तुम जगत्के स्वामी हो किन्तु तुम्हारा कोई स्वामी नहीं है ।”

यहां प्रथम श्लोकमें भगवान्के अत्यन्त अधिक प्रभावका आपाततः प्रतीयमान विरोधका समाधान है । और द्वितीय श्लोकमें नञ् तत्पुरुषसे विरोध और बहुव्रीहिसे

विषमम्—

‘गुणक्रिये वा यत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।

यद्वाऽऽरब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।

विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥’ [विश्वनाथः]

यत्र कारणगुण एकः, कार्यगुणस्तद्विपरीतः, क्रिया वा द्वयोर्विरुद्धा,
यत्र न केवलमारब्धस्य वैफल्यम्, अनर्थाऽऽपत्तिश्च, यत् विषमयो-

नास्ति ईश्वरः शास्ता यस्य स निरीश्वरः इति परिहारः । अत्र नवत्तपुरुष-समासे
विरोधः बहुव्रीहिणा परिहारो बोध्यः ।

विषमं लक्षयति—गुणेति । हेतुकार्ययोः गुणौ क्रिये वा यत् विरुद्धौ स्यातामि-
त्यन्वयः । तथा च कार्यगुणे यत् कारणगुणाद्विरुद्धः स्यात् अयमेकः प्रकारः । वा
अथवा का गतक्रिया यत् कारणगतक्रियातो विरुद्धा स्यादित्यर्थः । अयं द्वितीयः
प्रकारः । यद्वा आरब्धस्य कर्मणो वैफल्यं निष्फलत्वमनर्थस्य अनिष्टस्य च सम्भवः
उत्पत्तिः स्यात् इति तृतीयः प्रकारः । या च विरूपयोः विपरीतयोः पदार्थयोः संघटना
संयोजना एकत्र सम्मेलनम् तद्विषममिति चतुर्थः प्रकारः । एवं प्रकारचतुष्टयभेदेन
चतुर्धा इत्यर्थः । एष च विषमशब्दः वाच्यलिङ्गस्तेन अलंकारशब्दविशेषणत्वे विषय
इति पुल्लिङ्गोऽपि । अत एव काव्यप्रकाशे विषम इति पुंसैव निर्देशः ।

अत्रेदमवधेयम्—एकदेशस्थयोर्विरोधे विरोधाभासः । कार्यवृत्तित्वेन कारणवृ-
त्तित्वेन च भिन्नदेशस्थयोर्विरोधे तु विषमः इत्यनयोर्भेदः । गुणयोः क्रिययोर्वा विरुद्ध-
त्वेन विरूपयोः संघटनयैव गतार्थत्वे वैचित्र्यार्थक्यादेव पृथगुपन्यासः । व्याख्यात-

समाधान है । जैसा कि संस्कृत टीकामें दिया गया है ।

विषम—

जहां कारण और कार्यके गुण और क्रियाएं परस्पर विरुद्ध हों और आरब्धकी
विफलता और अनर्थकी भी सम्भावना हो और जहां विरुद्ध स्वभाववाली वस्तुओंका
मेल हो वहां विषमालङ्कार होता है ।

जहां कारणगुण कार्यगुणके विपरीत हो, अथवा दोनोंकी क्रिया भी परस्पर
विरुद्ध हो, और वहाँ केवल आरब्धकी विफलता ही नहीं प्रत्युत अनर्थकी सम्भावना
भी हो तथा जहाँ विषम स्वभाववालोंका सम्मेलन हो वहां विषमालङ्कार होता है ।

मेलनञ्च भवेत्, तदेवं चतुर्द्धा विषमम् । क्रमेण यथा—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥ १०४ ॥

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।

विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ १०५ ॥

अत्र त्वमानन्दं ददासि, त्वज्जनितो विरहस्तु तापयतितरामिति हेतुकार्ययोर्विरुद्धा क्रिया ।

रूपेण गुणादीनां वैषम्यादेवास्य विषम इति संज्ञा । इति । एतदेवमूले आह—चतुर्द्धेति ।

उदाहरति क्रमेण—सद्य इति । रणे रणे प्रतिसंग्रामं तमालवन्नीला तमालनीला नीलवर्णा कृपाणलेखा असिलता यस्य राज्ञः करस्पर्शं हस्तसम्बन्धम् अवाप्य प्राप्य शरदिन्दुवत् पाण्डु शरच्चन्द्रशुभ्रम् त्रिलोकस्याभरणं त्रिभुवनाभरणं यशः कीर्तिं सद्यः ऋणिति एव प्रसूते उत्पादयति इति चित्रम् आश्चर्यम् ।

अत्र 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायविरुद्धं कृष्णासिलता कथं शुक्लं यशः उत्पादयति इति कारणगुणात् कार्यगुणस्य विरुद्धत्व इदमुदाहरणम् ।

क्रियाविरुद्धत्वे उदाहरति—आनन्दमिति । हे कुवलयस्य दले इव लोचने यस्या स्तत्सम्बुद्धौ हे कुवलयदललोचने ! नीलोत्पलपत्रतुल्यनेत्रे । त्वम् इमम् आलिङ्गनादिरूपं अमन्दमनस्त्वम् आनन्दं सुखं ददासि जनयसि । त्वयैव जनितः उत्पन्नः विरहः मे मम शरीरं तापयतितरमत्यन्तं सन्तापयति इति आश्चर्यम् ।

अत्र आनन्दजनकस्त्रीरूपकारणात् तापजनकविरहोत्पत्तिः । 'कारणगुणाः कार्य-

इस प्रकार इसके चार भेद हुए । क्रमसे उदाहरण—

“तमालवृक्षके समान नीलवर्णकी जिसकी कृपाणलेखा प्रत्येक संग्रामोंमें हस्तस्पर्श प्राप्तकर शरत्कालके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, त्रिलोकीका आभरणरूपी यश उत्पन्न करती है यह आश्चर्य है ।”

यहां कारणरूपी काली असिलतासे (कारणके गुणोंसे ही कार्यमें गुण आरम्भ होते हैं) नियमके विरुद्ध शुभ्र यशकी उत्पत्ति कही गई है ।

“हे कमलदलके समान नेत्रवाली ! तुम तो अत्यन्त आनन्द देती हो, किन्तु तुम्हीं से उत्पन्न विरह मेरे शरीरको अत्यन्त ताप पहुंचाता है ।”

यहां तुम आनन्द देती हो, किन्तु तुमसे उत्पन्न विरह तो अत्यन्त ताप पहुंचाता

अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।

धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥ १०६ ॥

अत्र न केवलं काञ्चित्धनलाभा नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदन-
पूरणरूपानर्थपातः ।

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यसे ।

निन्द्यमथ च हरिमर्चयतस्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥ १०७ ॥

[माघः]

गुणान्तरभन्ते' इति न्यायात् आनन्दजनकस्त्रियः सकाशात् उत्पन्नस्य विरहस्यापि
आनन्दजनकत्वमेव युक्तम् । अत्र न तथा, अतः एकस्मादेव सुखजनकक्रियायाः
दुःखजनकक्रियायाश्च उत्पत्तिः विरुद्धा ।

तृतीयमुदाहरति—अयमिति । अयमम्भोधिः सागरः रत्नानामाकरः रत्नोत्प-
त्तिस्थानम् । इति मत्वा इति शेषः । धनस्याशा तथा धनलाभेच्छया असेवि उपकूले
धिचरणादिना सेवितः । किन्तु धनं धनलाभः दूरेऽस्तु दूरे तिष्ठतु क्षारवारिभिः
क्षवणजलैः वदनं मुखमपूरि पूरितम् ।

अत्र धनाशया आरब्धस्य सेवनस्य धनालाभरूपं वैफल्यमेव न जातं प्रत्युत क्षार-
वारिभिः वदनपूरणरूपमनर्थमप्यापतितम् इति तृतीयः विषमः ।

चतुर्थमुदाहरति—अनृतामिति । युधिष्ठिरं प्रति शिशुपालस्योक्तिः । हे धर्मराज !
अनृतां गिरं मिथ्यावाचं न गदसि न वदसि इति जगति लोके पटहैः पटहनादैः विघुष्यसे
प्रख्याप्यसे । अथ च निन्द्यं कुत्सितं हरिं कृष्णमर्चयतः तव कर्मणैव कार्येणैव असत्य-
ता मिथ्यावादित्वं विकसति प्रकटीभवति ।

है यह हेतु और कार्यके विरोधमें क्रिया है ।

“यह अम्भोधि (समुद्र) रत्नोंका कोष है यह समझकर धनकी आशासे इसकी
सेवाकी, किन्तु धनतो दूर रहे इसने अपने क्षार जलसे मुंह ही भर दिया ।”

यहां केवल अभिलषित धनप्राप्ति नहीं हुई यही नहीं, किन्तु खारे जलसे मुख भी
क्षाराकर दिया इस प्रकार अनर्थ ही हुआ ।

“तुम हुम्मी पिटवाकर यह घोषणा करते हो कि मैं असत्य वाणी कभी नहीं बोलता,
किन्तु इस निन्द्य हरि (कृष्ण) की पूजारूप तुम्हारे कर्म ही तुम्हारी असत्यवादिताका
चिह्नोरा पीट रहे हैं ।”

अत्र सत्यप्रख्यापनासत्यसमाचरणयोर्विरूपयोः सङ्घटना ।

असङ्गतिः—

‘कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।’ [विश्वनाथः]

यथा—अहो ! खलभुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधक्रमः ।

अन्यस्य दशति श्रोत्रमन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ १०८ ॥

कारणमाला—

‘परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

अत्र यस्त्वं कपटव्यवहारदक्षस्य निवस्य कृष्णस्य राजसभायां पूजनं करोषि, स्वं च सत्यवादित्वे प्रख्यापयसि उभयमपि विरुद्धम् । त्वमसत्यवादी असीति प्रतिभासते ।

असंगतिमुदाहरति—कार्येति । कारणस्य भिन्नदेशतायां भिन्नदेशस्थितायां च कार्यस्य भिन्नदेशतायां या उत्पत्तिः सा असंगतिरिति भावः ।

उदाहरति—अहो इति । खल एव भुजङ्गः सर्पस्तस्य अयं वधक्रमः मारणप्रकारः विचित्रः विलक्षणः अहो इत्याश्चर्ये । अन्यस्य श्रोत्रम् दशति स्पृशति अन्यः अपरः प्राणैरसुभिर्विमुच्यते वियुक्तो भवति म्रियते इत्यर्थः । कष्टं प्राप्नोतीति तात्पर्यम् ।

अत्र कारणस्य श्रोत्रदशनरूपस्य कार्यस्य प्राणवियोगरूपस्य च भिन्नदेशतायामसंगतेः असंगतिः स्पष्टा ।

कारणमालां लक्षयति—परमिति । यदा परं परं पदार्थं प्रति पूर्वपूर्वस्य हेतुता

यहां सत्यवादिताकी प्रसिद्धि करना और सत्य आचरण न करना इन विरूप कर्मोंका मेल किया गया है ।

असङ्गति—

जहां कार्य और कारण भिन्न भिन्न देशोंमें हों, वहां असङ्गति अलङ्कार होता है ।

जैसे—

“सर्प और दुर्जनोंके वधका क्रम बड़ा ही विचित्र है (सर्प तो जिसको काटता है वही मरता है) किन्तु खल दूसरेके कानमें काटता है और दूसरा मर जाता है ।”

यहांपर मरनारूप कार्य अन्यदेश और काटनारूप कारण अन्य देशमें है, अतः असङ्गति है ।

कारणमाला—

उत्तर उत्तर कार्योंके प्रति पूर्व पूर्व यदि कारण बनते हों तो कारणमाला

तदा कारणमाला स्यात्' दर्पणे समुदीरिता ॥

यथा—जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं

गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते

जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ १०६ ॥

सारः—

'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ।' [मम्मटः]

यथा—राज्ये सारं वसुधा, वसुधायां पुरं, पुरे सौधम् ।

कारणता वर्तते तदा कारणमाला स्याद् इति दर्पणे साहित्यदर्पणे समुदीरिता सम्यक् प्रकारेण कथिता ।

उदाहरति—जिते इति । जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं हेतुः । गुणानां प्रकर्षः विनयाद् विनीतव्यवहारात् अवाप्यते लभ्यते । गुणानां प्रकर्षेण जनः लोकः अनुरज्यते अनुरक्तो भवति । जनानुरागात् प्रभवः यासां ताः जनानुरागलभ्याः सम्पदः सम्पत्तयः भवन्ति हि निश्चयेन । वंशस्थं वृत्तम् ।

अत्र विनयादिकं परं परं प्रति पूर्वस्य पूर्वस्य जितेन्द्रियत्वादेः कारणत्वात् कारणमालालङ्कारः ।

सारं लक्षयति—उत्तरविति । उत्तरोत्तरं क्रमशः वस्तुनः विशेषपदार्थस्य उत्कर्षः उत्तमत्वं भवेत् चेत् तर्हि पर उत्कृष्टेवधिः मर्यादा यस्य स सारः—सारो नामालङ्कार उच्यते कथ्यते इत्यर्थः ।

उदाहरति—राज्ये इति । राज्ये वसुधा पृथ्वी सारं । वसुधायां पुरं नगरं सारं

अलङ्कार होता है । यह लक्षण साहित्यदर्पण में कहा गया है ।

जैसे—

“इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना विनयका कारण है, और विनयसे गुण बढ़ता है, गुणके प्रकर्षसे लोक उस पर प्रेम करते हैं और लोकानुरागसे सम्पत्ति मिलती है।”

यहां उत्तरोत्तर कार्योंके प्रति पूर्व पूर्वको कारणता है ।

सार—

अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो उत्तरोत्तर वस्तुओंका उत्कर्ष है, उसे सार कहते हैं ।

जैसे—“राज्यमें सार पृथिवी है और पृथिवीमें नगर, नगरमें सुन्दर अट्टालिकायें

सौधे तल्पं, तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥ ११० ॥

एकावली—

‘पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात् तदैकावली द्विधा ॥’

[विश्वनाथः]

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो विशेषणत्वेन यत् स्थापनं निषेधो वा सम्भवति, सा द्विधा बुधैरेकावली कथ्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।

भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं मधुवर्षि च ॥ १११ ॥

सारभूतम् इत्यर्थः । पुरे नगरे सौधम् हर्म्यं सारम् सौधे हर्म्यं तल्पं शय्या सारं तल्पे शय्यायाम् अनङ्गस्य सर्वस्वं वराङ्गना ललना-लतामभूता उत्तमयोषा सारमित्यर्थः । वराङ्गनायाः अनङ्गस्य सर्वस्वं रतिमन्दिरं सारमिति केचन छिद्रान्वेषिणः । तदयुक्तम् । वराङ्गनायाः एव सारत्वात् तत्र तृप्तेः फलरूपत्वात् ।

अत्र उत्तरस्मिन् उत्तरस्मिन् राजवसुधावपेक्षया पुरादीनामुत्कर्षं बोधयित्वा उत्कृष्टतमे नायिकारूपे वस्तुनि अवधिः कृता ।

एकावलीं लक्षयति—पूर्वमिति । स्वयं क्विणोति पूर्वमिति । पूर्वं पूर्वं विशेष्यं प्रति विशेषणत्वेन परं परं यत् विशेष्यं स्थाप्यते इति योजना । अपोह्यते निषिध्यते इत्यर्थः । तदा बुधैः एकावली द्विधा द्विप्रकारा कथिता इति शेषः ।

विशेषणत्वेन स्थापनमुदाहरति—सरो इति । यत्र शरदिसरो दीर्घिका विकसितानि अम्भोजानि यत्र तत् विकसितकमलं भवति इति शेषः सर्वत्र योजनीयः । अम्भोजं कमलं भृङ्गैः सङ्गतं भृङ्गसङ्गतं अमरसमन्वितं, भृङ्गाः अमराः सङ्गीतेन सहिताः ससङ्गीताः भवन्ति इति

अटारियोमें अच्छी सजी सजाई पलंग और पलङ्गपर कामदेवका सर्वस्व सुन्दरी नायिका सार है ।”

एकावली—

पूर्वं पूर्वं वस्तुके प्रति उत्तर उत्तर वस्तुओंका विशेषणत्वेन स्थापन अथवा निषेध यदि हो तो वह एकावली नामका अलङ्कार दो प्रकारका कहा जाता है ।

प्रथम—

“सरोवर वही है जिसमें विकसित कमल हों, कमलभी वही जिसमें अमर लिपटे हुए हों, भृङ्ग भी वही हैं जो गुणगुनाते हों और गुणगुनाना भी वही उत्तम है जिसके

अत्र सरसोऽम्भोजम्, तस्य भृङ्गम्, इत्यादिक्रमेण विशेषणं विधीयते ।
न तज्जलं यत्र सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तत् यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥११॥

अत्र क्रमेण पूर्वपूर्वस्य निषेधः ।

[भट्टिः]

अर्थापत्तिः—

‘दण्डापूपिकयाऽन्यार्थाऽऽगमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।’ [विश्वनाथः]

मूषिकेण दण्डो भङ्गित इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणम्

विभक्तिविपरिणामेनाभ्याहारः । सङ्गीतं स्मरोदयेन सहितं कामावर्भावजनकामित्यर्थः ।

अत्र सरः प्रभृतिकं पूर्वं पूर्वं विशेष्यं प्रति विशेषणत्वेन अम्भोजादिपरविशेष्यस्य स्थापनादेकाल्यलङ्कारः ।

विशेषणत्वेनापोहितमुदाहरति—नेति । तत् जलं सलितं न नहि यत् सुचारुणि पङ्कजानि यस्मिन् तत् नाभवत् । तत् पङ्कजं कमलं न नहि यत् न लीना मधुपानाय षट्पदाः यत्र तत् अभवत् । असौ षट्पदस्तथा न आसीत् यः कलं मधुरं न जुगुञ्ज गुञ्जितवान्, तत् गुञ्जितं न यत् मनो न जहार न अहरत् ।

अत्र जलादिकं पूर्वं पूर्वं विशेष्यं प्रति विशेषणत्वेन पङ्कजादि परं परं विशेष्यस्य निषेधनात् एकाव्यलङ्कारः ।

अर्थापत्तिं लक्षयति—दण्डेति । दण्डश्च अपूपिकश्चेति तयोः समाहारः दण्डापूपिकम् तमुद्दिश्य प्रवृत्तो न्यायः दण्डापूपिका तथा दण्डापूपिकया अन्यार्थस्य प्रस्तु-
तार्थातिरिक्तस्यागमप्रतीतिरर्थापत्तिर्नामालङ्कार इष्यते ।

दण्डापूपिकान्यायस्वरूपं विवृणोति—मूषिकेति । अस्यायमर्थः—कस्यावित्

सुननेसे अमृतवर्षा—सी होती हो ।”

यहां पर सरोवरमें कमल, कमलमें भृङ्ग, भृङ्गमें शब्द, शब्दमें राग, रागमें मोह-
कताका क्रमसे विशेषणत्वेन उपन्यास किया है ।

“वह जल नहीं जिसमें सुन्दर कमल न हो, वह कमल नहीं जिसमें अमर लीन न हों, वह अमर नहीं जो गुञ्जार न करता हो और वह गुञ्जित नहीं जो मन न हर ले ।”

यहां क्रमसे पूर्व पूर्वका निषेध किया गया है ।

अर्थापत्ति—दण्डापूपिकान्यायसे (जो दण्डा खा सकता है वह मालपूआ खाकर
बर्षों न पचा जायगा । अर्थात् मालपूआ अवश्य पचा सकता है इस प्रकार) जहां
अन्यार्थकी प्रतीति हो, वह अर्थापत्ति अलंकार है ।

मूषिकेने दण्डा काट दिया यह कहते ही इस अर्थका बोध हो जाता है कि उसमें

अर्थादायातं भवतीत्येष न्यायो दण्डापूपिका । तथाऽर्थान्तरबोधनम्
अर्थापत्तिः । यथा—

विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामभ्यपहाय धीरताम् ।

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ? ॥ ११३ ॥ [रघु०]

अतिकठनं लौहमपि तापेन गलितं भवतीति तदपेक्षया अतिसुकु-
मारस्य मनुष्यहृदयस्य गलनं सुतरामायातीत्यर्थापत्तिः ।

इति अलङ्कारविवेको नाम अष्टमशिखा ।

गृहिण्याः गृहे एकस्मिन् पिटके अपूपं स्थापितमासीत् । तत्र मूषकेन अपूपेन सह
पिटककाष्ठमपि भक्षितम् । प्रातः अपूपः कुत्र गत इति पत्या पृष्टा पत्नी आह—‘यत् मन्ये
मूषकेन भक्षितम्’ कथं ज्ञायते इति पृष्टा सोक्तवती यत् ‘अयं दण्ड अपि मूषकेन भक्षित
इवावलोक्यते तेनानुमीयते यत् यः दण्डं भक्षितुं शक्नोति स आपूपान् किं न भक्षि-
ष्यति’ इत्येतद्दण्डायूपिकान्यायस्य स्वरूपम् ।

उदाहरति—विललापेति । स अजः सहजां स्वाभाविकीं धीरतामपहाय त्यक्त्वा
वाष्पैरश्रुभिः गद्गदानि अस्फुटानि यत्र तत् विललाप विलापं कृतवान् । अभितप्तं
सन्तप्तमेयोऽपि लौहमपि मार्दवं मृदुत्वं भजते पुनः शरीरिषु प्राणिषु विषये कथैव
का तेषां विषये किं वाच्यम् । वियोगिनी वृत्तम् ।

स्वयं लक्ष्ये सङ्गमयति—अतिकठिनमिति ।

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य-शिक्षाशास्त्रि-श्रीरामगोविन्दशुक्ल-

रचिते काव्यदीपिकामयूखे अष्टमी शिखा समाप्ता ।

बंधा हुआ अपूप भी उसीने खाया है क्योंकि जो दण्डा तक खा सकता है वह
अत्यन्त कोमल मालपूआ क्यों नहीं खाएगा । यही दण्डापूपिका न्याय है । इस
न्यायसे वहाँ अर्थान्तरकी प्रतीति होती हो वह अर्थापत्ति है । जैसे—

“वह (अज) अपनी स्वाभाविक धीरताको छोड़कर विलाप करने लगा, क्योंकि
अग्निमें गरम किया गया लोहाभी कोमल हो जाता है फिर मनुष्योंकी क्या कथा ?
अर्थात् वे पिघल ही जाते हैं ।”

यहां तापसे जब अत्यन्त कठिन लोह भी कोमल हो जाता है तो अत्यन्त सुकुमार
मनुष्यका हृदय क्यों न पिघल जाय ? अर्थात्, आया है अतः अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

इति न्यायव्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचित काव्यदी-

पिकाकी हिन्दी टीका किरणकी अष्टमी शिखा समाप्त ।

(परिशिष्टात्मकः)
अष्टमशिखालोकः

स्मरणम्—

‘सदृशानुभवात् वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।’ [विश्वनाथः]

अनुरूपस्य वस्तुनोदर्शनाऽऽदिना यस्य कस्यापि अन्यस्य वस्तुनः
स्मरणं, स्मरणं तम अलङ्कारः ।

यथा—दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ता

दम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।

उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्ती—

मस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥ ११४ ॥ [माघः]

स्मरणालङ्कारं लक्षयति—सदृशेति । गुणेन आकारेण चेष्टादिना वा सदृशस्य
अनुरूपस्य अनुभवात् दर्शनादिजन्यज्ञानात् । वस्तुनः दृष्टश्रुतसदृशस्य पदार्थस्य स्मृतिः
स्मरणालङ्कारः । सादृश्यानुभवजन्यपदार्थस्मृतिः स्मरणम् इत्यर्थः ।

उदाहरति—दिव्यानामिति । शौरिः श्रीकृष्णः दिव्यानामपि स्वर्गवासिनामपि
कृतः उत्पादितः विस्मयः यया तां कृतविस्मयां स्फुरद्भयां अरविन्दाभ्यामिव चारु
मनोरमौ हस्तौ यस्यास्तां पुरस्तात् अग्रतः अग्रे अम्भस्तः जलात् उत्तरन्तीं निष्क्रामन्तीं
काञ्चित् श्रियम् श्रियमिव उद्वीक्ष्य अवलोक्य जलनिधेः मन्थनं तस्य समुद्रमन्थनस्य
‘अधीर्गर्धदयेशां कर्मणि’ इति कर्मणि षष्ठी । समुद्रमथनम् अस्मार्षीत् स्मृतवान् इत्यर्थः ।

अत्र कस्याश्चित् कमलहस्तायाः कान्तायाः जलादुत्तरणमवलोक्य तां समुद्रस्य मन्थ-
नावसरे समुद्रात् प्रादुर्भवन्तीं लक्ष्मीमिव मत्वा समुद्रमन्थनस्मरणात् स्मरणालङ्कारः
इत्यलङ्कारकौस्तुभकारः । मल्लिनाथस्तु—अत्र समुद्रमन्थनस्मारिकया श्रियमि-
वेत्युपमया सादृश्यात् श्रीः स्मृतेति स्मरणालंकारप्रतीतेरलङ्कारध्वनिः । इति ।

स्मरण—

सादृश्य अनुभवसे वस्तुका स्मरण हो जाना स्मरणालङ्कार है ।

अनुरूप वस्तुके दर्शनसे जिस किसी या अन्य वस्तुका स्मरण होना स्मरणालङ्कार है ।

जैसे—“देवताओंको भी विस्मयमें डालनेवाली, अपने कमलके समान रक्त वर्णके
दोनों हाथोंको लिए हुए जलसे बाहर निकली हुई लक्ष्मीके तुल्य किसी नायिकाको
देखकर भगवान श्रीकृष्णको जलनिधि मन्थनका समय स्मृत हो उठा ।”

यथा चा—अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम् ।

स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥ ११५ ॥

परिकरः—

‘विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।’ [मम्मटः]

पञ्चाननभट्टाचार्यास्तु—यतः पुरा देवदानवैर्मिलित्वाक्षीरोद्धना अमृतं ममन्थे पश्चाच्च लक्ष्मीः कमलहस्ता तस्मात् प्रादुरासीत् इति पौराणिकी वार्ता । अत एव उद्धोधकीभूतानां कमलसदृशीनां कामिनीनां दर्शनात् तत्सहकारिणएव लक्ष्मीरूपस्य लोकप्रसिद्धवस्तुनः स्मरणं स्फुट एव तत् कथमलंकारध्वनिरित्युक्तं तन्न जानीमहे । प्रत्युत एतेन तासामलौकिकं लावण्यं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः समुचित एवेति प्राहुः ।

वस्तुतस्तु—श्रियमिवेत्यत्र इव शब्दस्य सत्त्वेन वैधर्म्यसाम्यबोधात् उपमालङ्कार एव, स्मृतेस्तु प्रतीतिमात्रगम्यतया उपमालङ्कारेण स्मरणालंकारध्वनिरेवेत्याहुः ।

उपरितने श्लोके श्रियमिवेत्यत्र इवपदेनोपमाया एव सत्त्वेन उदाहरणान्तरं दर्शयति—यथा वेति । अरविन्दमिति । खेलता क्रीडता खञ्जनेन मञ्जुलम् मनोहरम् इदं पुरोवर्ति अरविन्दं वीक्ष्य कमलमवलोक्य तस्याः प्रियायाः चञ्चले लोचने यत्र तत् चञ्चलनेत्रम् चारु मनोहरम् वदनं मुखं स्मरामि ।

अत्र खेलत्खञ्जनश्चललोचनसदृशम् अरविन्दश्च स्वभावत एव मुखसदृशमिति सर्वस्यैव मुखसदृशस्य अरविन्दस्य दर्शनाज्जायमानायास्तादृशमुखस्मृतेः स्मरणालङ्कारः ।

परिकरं लक्षयति—विशेषणैरिति । साकूतैः साकूतेन अभिप्रायेण सह वर्तन्ते इति साकूतानि तैः साभिप्रायैः विशेषणैः विशेषणद्वारा यत् या उक्तिः कथनम् विशेष्यस्य वर्णनम् स तु परिकरः । यानि विशेषणानि विशेष्यगतमर्थमुत्कर्षयन्ति तैर्विशिष्य वर्णनं परिकरो नामालङ्कारः इति भावः ।

अथवा—“जिसपर मनको हरनेवाले खञ्जन खेल रहे हैं इस कमलको देखकर मनोहर तथा चञ्चललोचनाके सुन्दर मुखका स्मरण हो जाता है ।”

परिकर—

कुछ अभिप्राय रखकर जो विशेषणोंकी उक्ति है; उसे परिकर कहते हैं ।

साकूतैः—साभिप्रायैः, विशेषणैः यद् विशेष्यस्याभिधानम्, सः परिकरो नाम अलङ्कारः । यथा—

तव प्रसादात् कुसुमाऽऽयुधोऽपि
सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः

धैर्यच्युतिं, के मम धन्विनोऽन्ये ? ॥ ११६ ॥ [कुमारस०]

अत्र कुसुमाऽऽयुध इति विशेषणं वक्तुर्निःसाराऽऽयुधत्वं द्योतयति, पिनाकपाणेरिति च रुद्रस्य महासाराऽऽयुधत्वम्, इत्युभयं साभिप्रायं विशेषणम् ।

अधिकम्—

‘अधिकं पृथुलाऽऽधारादाधेयाऽऽधिक्यवर्णनम् ।

उदाहरति—तवेति । हे देवेन्द्र । तव भवतः प्रसादात् कृपया कुसुमानि एव आयुधानि यस्य स पुष्पत्राणः अपि सन् एकमेकसंख्याकं मधुमेव वसन्तमेव सहायकं लब्ध्वा प्राप्य नान्यं कमपि वीरमित्यर्थः । पिनाकं पाणौ यस्य तस्य पिनाकपाणेः हरस्य शिवस्य संहारकस्य वा धैर्यस्य च्युतिं धैर्यभ्रंशं कुर्यां कर्तुं शक्नुयाम् । अन्ये अपरे धन्विनः धनुर्धराः मम के । अन्ये केपि न प्रतियोद्धार इति भावः ।

अत्र कुसुमायुधोऽपि पिनाकपाणेः हरस्य संहारकस्येति धैर्यच्युतिं कर्तुं प्रभवामि अन्यधनुर्धराणां का कथा इति कथनेन स्वस्यायुधे निःसारत्वं हरस्य महत्त्वमन्यधानुष्काणां चासमर्थत्वं साभिप्रायैर्विशेषणैरभिधानम् इति परिकरस्य समन्वयः ।

अधिकालङ्कारं लक्षयति—अधिकमिति । पृथुलः आधारः पृथुलाधारस्तस्मात्

साकूतैः—अभिप्रायोसे भरेपुरे विशेषणोसे विशेष्यका कथन परिकर नामका अलङ्कार है । जैसे—

“तुमारी कृपासे अपने कुसुमके अस्त्रोंसे भी केवल वसन्तकी सहायता मिल जानेपर धनुर्धर भगवान् शंकरके भी धैर्यको दूर कर सकता हूँ, दूसरे धनुर्धरोंकी क्या गणना है ? ।”

यहां कुसुमायुध विशेषण वक्ताके आयुधकी निःसारता तथा पिनाकपाणि तथा हरणकर्ता हरकी महत्ता बतलाना ही विशेषणोंका अभिप्राय है ।

अधिक—

अत्यधिक आधारकी अपेक्षा आधेयकी, अथवा आधेयकी अपेक्षा आधारका

पृथ्वाधेयात् यदाधाराऽऽधिक्यं तदपि तन्मतम्' ॥ [चन्द्रालोकः]

अतिविपुलस्य आधारस्य अपेक्षया आधेयस्य, अथवा अतिविपुलस्य आधेयस्य अपेक्षया आधारस्य आधिक्यं कविना स्वप्रतिभा-
द्वारा यदि आविष्क्रियते, तदा अधिकं नाम अलङ्कारः । क्रमेण यथा—
युगान्तकालप्रतिसंहताऽऽत्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।

अतिविपुलाधारात् आधेयस्य आधिक्यं तस्य वर्णनम् कविप्रतिभया समर्थनम् । एवं,
पृथु यः आधेयस्तस्मात् विपुलाधेयात् आधारस्यस्य आधिक्यवर्णनम् । तदपि
आधिक्यवर्णनमपि तत् अधिकं अधिकालङ्कार इत्यर्थः । मतमभिमतम् । एवं च पृथ्वा-
धारादाधेयाधिक्ये पृथ्वाधेयादाधाराधिक्ययोर्वर्णनम् अधिकमिति भावः । उभयत्रापि
कविप्रतिभैव हेतुः ।

प्रथममुदाहरति—युगेति । युगस्यान्तो युगान्तस्तस्य कालस्तस्मिन् प्रतिसंहताः
आत्मानः जीवाः येन तस्य प्रलयकालसंहतजीवस्य कैटभं द्वेष्टि इति कैटभद्विष्टु तस्य
कैटभद्विषः कृष्णस्य यस्यां तनौ शरीरे जगन्ति लोकाः सविकाशं सविस्तरमासत
स्थितः आसीत् तत्र तस्यां तनौ शरीरे तपोधनस्याभ्यागमस्तस्मात् सम्भवः उत्पत्तिः
यासां ताः नारदागमनोत्पन्नाः मुदः प्रमोदाः न नहि ममुः नावकाशं प्रापुः ।

अत्र महति कृष्णशरीररूपे आधारे आधेयस्य मुदः आधिक्यवर्णनादाधारापेक्ष-
याधेयाधिक्यवर्णनरूपो अधिकालङ्कारः ।

महिनाथस्तु चतुर्दशभुवनधारणपर्याप्ते वपुषि मुदः न अमाद् इति कविप्रौढो-
क्तिसिद्धातिशयेन स्वतः सिद्धस्यामेदेनाध्यवसितत्वादतिशयोक्तिः । सा च मुदामन्तः—
सम्बन्धेष्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा अतिशयोक्तिरित्याह ।

तस्येदं तात्पर्यम्—यत् कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेनाध्यवसितत्वेन आमोदरूप-
स्याऽधेयस्य आधिक्यसिद्धिरिति अतिशयोक्तिमूलोऽयमधिकालङ्कार इति सर्वं सुस्थम् ।

जहां आधिक्य कवि अपनी प्रतिभाके द्वारा प्रकट करे, उसे अधिकालङ्कार कहते हैं ।
जैसे—

“प्रलयकालमें सारा संसार जहां विकासके साथ आरामसे रहा, उसी कैटभके
शत्रु (कृष्ण) के शरीरमें तपोधन नारदके आगमनका हर्ष नहीं समा सका अर्थात्
अधिक हो गया ।”

तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥११७॥ [माघः

किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरियत्र ।

अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ॥ ११८ ॥ [विश्वनाथः]

विशेषः—

‘विशेषः ख्यातमाधारं विनाऽप्याधेयवर्णनम् ।

विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ।

किञ्चिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ॥’ [चन्द्रालोकः]

आधारवर्णयित्वैव यदि आधेयं वर्ण्यते, यद्वा यदि एकं यत् कि-
मपि वस्तु अनेकत्र वर्ण्यते, अथवा यस्य कस्यापि वस्तुनः आरम्भेण
अन्यस्य अशक्यस्य वस्तुनः कृतिः—वर्णनया निर्माणमपि विशेषनामा-
लङ्कारः । क्रमेणोदाहरणम्—

पृथ्वाधेयात् आधाराधिक्यमुदाहरति—किमिति । अस्य वारिधेः समुद्रस्य महिमानं
महत्त्वमधिकं किं ब्रूमः व्यर्थत्वात् यतो हि यत्र हरिः विष्णुः कुक्षौ उदरे भुवनानि
चतुर्दशभुवनानि निक्षिप्य स्थापयित्वा अज्ञात एव कुत्र वर्तते इति न ज्ञायते इत्येवंरक्ष्यः
शेते निद्राति ।

अत्र चतुर्दशभुवनभर्तुः विष्णोः सागरे एककोशे स्थितिः एवं पृथ्वाधेयात् विष्णोः
अपेक्षया आधारस्य सागरस्याधिक्यवर्णनम् इति ।

विशेषालङ्कारमुदाहरति—विशेषेति । ख्यातं प्रसिद्धमाधारं विना अपि आधे-
यस्य वर्णनं विशेषः विशेषालङ्कार इत्यर्थः । इत्येकः प्रकारः । अपरमाह—सोऽपीति ।
यदि एकं वस्तु अनेकत्र वर्ण्यते सोऽपि विशेषः विशेषालङ्कार इति द्वितीयः प्रकारः ।
तृतीयमपि प्रकारमाह—किञ्चिदिति । किञ्चित् आरम्भतः विधानोयोगात् अशक्यस्य
दुःसाध्यस्य वस्त्वन्तरस्य कृतिः सम्पादनं स विशेषालङ्कारः । इति त्रिप्रकारो विशेष-
ालङ्कार इत्यर्थः । एतदेवस्फुटयति—मूले आधारेत्यादिना ।

“इस सागरकी महिमाके विषयमें क्या कहूँ जिसके उदरमें हरि भी चौदहों भुवनो
को अपने उदरमें रखकर अज्ञात स्थान पर सोते हैं ।”

विशेष—

प्रसिद्ध आधारके विना भी जहां आधेयका वर्णन हो, उसे विशेष कहते हैं । और
उसे भी विशेष कहते हैं जहां एक ही वस्तुका अनेक स्थानोंपर वर्णन हो । और
यदि किसी कार्यके करते समय कोई दूसरा कार्य स्वयं सिद्ध हो जाय, वह भी
विशेषालङ्कार ही है ।

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥११६॥ [अल. स.]

अत्राऽऽधारभूतकविजनानां स्वर्गगतत्वेन तद्दर्शनं विनैव आधेयभू-
तानां तद्गिरां वर्णनम् ।

कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे ।

पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामैकं रिपवः पुरः ॥ १२० ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मेह तम् ? ॥१२१॥ रघु०

उदाहरति—दिवेति । दिवं स्वर्गमपि उपयातानां गतानाम् । अनल्पाः गुणानां
माधुर्यादीनां गणाः समूहाः यासां तादृश्यः गिरः वाण्यः काव्यानीत्यर्थः । आकल्पं
कल्पावधि जगन्ति संसारम् रमयन्ति प्रसादयन्ति ते प्रसिद्धा कवयः कथमिव कथङ्कारं
न वन्द्याः वन्दनीया इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धस्याधारस्य कविरूपस्याभावेऽपि स्वर्गतत्वेऽपि
आधेयभूतानां कविगिरामवस्थितिवर्णनम् विशेषः ।

एकस्य वस्तुनः अनेकत्र वर्णनायामुदाहरति—कानन इति । कानने अरण्ये सरितः
उद्देशे नदीप्रदेशे गिरीणां पर्वतानां कन्दरेऽपि गुहायामपि अन्तकस्य कालस्य सङ्काशं
तुल्यं पुरः अग्रे त्वा भवन्तं रिपवः शत्रवः पश्यन्ति अवलोकयन्ति । अत्र एकस्यैव राज्ञः,
युगपत् एकस्मिन्नेव काले काननाद्यनेकस्थानवर्तित्वादिवर्णनम् द्वितीयो विशेषालङ्कारः ।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—गृहिणीति । हे प्रिये ! करुणया विमुखस्तेन निष्करुणेन
मृत्युना कालेन त्वां हरता नाशयता गृहिणी पत्नी, सचिवः मन्त्री, मिथः एकान्ते सखी
मित्रम्, ललिते मनोरमे कलाविधौ नृत्यादिषु विषये प्रियशिष्या च किं न हतम् ? इति
वद सर्वमेव हतमित्यर्थः । अत्र इन्दुमतीमात्रहरणे समर्थो मृत्युः अशक्यवस्त्वन्तरस्य
गृहिण्यादिहरणरूपस्य कृतिः सम्पादनम् विशेषालङ्कारः ।

क्रमसे उदाहरण—“जो स्वर्ग चले गए हैं और जिनके गुणगण और वाणी कल्प
पर्यन्त जगत्को आनन्दित करती रहेगीं क्या वे कवीश्वर वन्दनीय नहीं हैं ।”

यहां वर्णनके आधारभूत कवियोंके स्वर्ग चले जानेसे उनके वर्णनके बिना ही
आधेयभूत उनकी वाणियोंका वर्णन किया गया है ।

“वनमें नदीके तटपर और पर्वतकी कन्दराओंमें भी एक तुम्हें ही शत्रु यमराजके
समान अपने सामने देखते हैं ।”

“स्त्री, मंत्री, एकान्तमें मित्र और उत्तम कलामें प्रिय-शिष्या तुम्हें हरते हुए
करुणासे विमुख विधिने मेरा क्या नहीं हरण कर लिया, बताओ ?”

परिवृत्तिः—

‘अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा स्मृता ।’ [दण्डी]

समस्य न्यूनस्य अधिकस्य वा पदार्थस्य समेन अधिकेन न्यूनेन वा पदार्थान्तरेण परिवर्तनं परिवृत्तिः । क्रमेण यथा—

तदा भगवता तेन दृष्टि दत्त्वा रणाङ्गणे ।

गृहीतं जीवितं तेषामचिरात् परिपन्थिनाम् ॥१२२॥ [सरस्वतीकण्ठा०]

किमित्यपास्याऽऽभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्द्धकशोभि वल्कलम् ? ।

घद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ? ॥१२३॥ [कुमा]

योऽर्थानां पदप्रतिपाद्यार्थविशेषाणां गुणक्रियादिपरिवर्तनम् तु परिवृत्तिः सा स्मृता परिवृत्त्याख्योलङ्कार इत्यर्थः । विनिमयश्च केन प्रकारेणैति जिज्ञासायां स्वयमाह—समस्येति । समस्य समेन, अधिकस्य न्यूनेन न्यूनस्याधिकेनेति योजना ।

समस्य समेन विनिमयात्मकं परिवृत्त्यलङ्कारमुदाहरति—तदेति । जरासन्धेन सह श्रीकृष्णस्य संग्रामवर्णनमिदम् । तेन भगवता कृष्णेन तदा युद्धावसरे रणाङ्गणे संग्रामभूमौ दृष्टि दत्त्वा चक्षुषी आवध्य तेषां जरासन्धानुयायिनां परिपन्थिनां शत्रूणां जीवितं प्राणाः अचिरात् भ्रुटिति गृहीतं हतवान् । अत्र दृष्टिदानेन समं प्राणग्रहणं जातं तेन समेन दृष्ट्या समस्य प्राणस्य ग्रहणमिति परिवृत्त्यलङ्कारः ।

न्यूनस्याधिकेनोदाहरति—किमिति । पार्वतीं प्रति शिवस्योक्तिः । हे पार्वति ! यौवने युवावस्थायाम् आभरणानि आभूषणानि अपास्य उज्जित्वा वार्द्धके शोभते इति वार्द्धकशोभि वृद्धावास्थायां शोभाजनकं वल्कलं वृक्षत्वक् त्वया किं धृतम् ? कथं धृतम् । प्रदोषे प्रदोषकाले स्फुटा चन्द्रश्चतारकाश्च यत्रेति स्फुटचन्द्रतारका विभावरी रात्रिः अरुणाय सूर्यसूताय अरुणोदयायेत्यर्थः । कल्पते यदि वद ब्रूहि । अत्र अधिकेन आभरणरूपेण वस्तुना वल्कलरूपस्य न्यूनस्य वस्तुनो विनिमयः इति द्वितीयः प्रकारः ।

परिवृत्ति—सम, न्यून और अधिक पदार्थसे सम, अधिक और न्यून पदार्थान्तरका परिवर्तन परिवृत्ति अलङ्कार है । क्रमसे जैसे—

“उस समय भगवान् कृष्णने रणभूमिमें दृष्टि लगाकर उन शत्रुओंका प्राण तुरन्त खींच लिया ।”

“युवावस्थामें आभूषणोंको हटाकर वृद्धावस्थामें शोभा देनेवाले वल्कलोंको तुमने क्यों धारण किया है। क्या यह बता सकती हो कि सन्ध्या समयमें जब चन्द्रमा और ताराएं अच्छी तरह उदित हो उठी हों तो क्या रात्रि अरुणोदयकी कल्पना करती है।”

तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।

येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥ १२४ ॥ [अस]

एषु उदाहरणेषु क्रमेण दृष्टिजीवितयोः समत्वेन, आभरणवल्कलयो-
रधिकन्यूनत्वेन, जर्जरकलेवरयशसोऽन्यूनत्वेन अधिकत्वेन च विनिमयः ।

पर्यायः—

‘एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।’ [मम्मटः]

यत्र एकं वस्तु अनेकविधे वस्तुनि, अनेकविधं वा वस्तु एकस्मिन्
वस्तुनि भवति क्रियते वा, स पर्यायः । तथा च—एकस्य वस्तुनः अने-
कगोचरभवेनाऽऽत्मा, अनेकगोचरकरणाऽऽत्मा चेति द्विविधः पर्यायः’

अधिकस्य न्यूनत्वेन विनिमये परिवृत्तिमुदाहरति—तस्येति । तस्य प्रवयसः वृद्धस्य
स्वर्गिणः स्वर्गतस्य जटायुषः अधुना मृते किमिव शोच्यते न किमपि शोचनीयमि-
त्यर्थः । येन जटायुषा जर्जरस्य कलेवरस्य व्ययस्तस्मात् जीर्णकलेवरनाशात् इन्दुकि-
रणमिव उज्ज्वलं चन्द्रकिरणधवलं यशः कीर्तिं क्रीतम् ।

अत्र जीर्णशरीररूपन्यूनत्वेन वस्तुना निर्मल यशो रूपस्याधिकस्य वस्तुनो विनिमयः ।

एतदेव स्फोरयति—एषु इति । प्रथमे लक्षणं सङ्गमयति दृष्टिदानजीवितादानरूप-
समवस्तुना समस्य विनिमय इत्यर्थः । द्वितीयश्लोके लक्षणं संगमयति—आभरणेति ।
आभरणरूपाधिकेन न्यूनस्य वल्कलस्य विनिमये इत्यर्थः । तृतीयसङ्गमयति—जर्जरेति ।
न्यूनत्वेन जर्जरकलेवरेणाधिकस्य निर्मलयशसः विनिमय इत्यर्थः ।

पर्यायं लक्षयति—एकमिति । मूल एव स्पष्टम् । ‘अन्यस्ततोऽन्यथा’ पदं विवृणोति—
अनेकविधमित्यादिना । क्रियते भवति वेति अध्याहारस्य तात्पर्यं प्रकटयति—तथा

“उस अत्यन्त वृद्ध जटायुके विषयमें क्या सोचते हो जो स्वर्गमें चला गया है ।
और जिसने अपने जीर्ण शीर्ण कलेवरके व्ययसे चन्द्रमाके किरणके तुल्य अत्यन्त
उज्वल कीर्ति उत्पन्न किया है ।”

इन उदाहरणोंमें दृष्टि और प्राणका समसे समका, आभरण और वल्कलमें
अधिकसे न्यूनका, जर्जर कलेवर और यशमें न्यूनसे अधिकका विनिमय किया है ।

पर्याय—जहां एकही वस्तु अनेकविध वस्तुके रूपमें किया जाता हो या हो जाता
हो और अनेक विध वस्तु एक वस्तुके रूपमें किया जाता हो या हो जाता हो उसे
पर्याय कहते हैं ।

जहां एक वस्तु अनेकविध वस्तुमें अन्यका अनेकविध वस्तु एक वस्तुमें होता हो
अथवा किया जाता हो वह पर्याय है । अतः एक वस्तुका अनेकगोचरभवनरूप,

तथा अनेकस्य वस्तुनः एकगोचरभवनत्माऽऽत्मा, एकगोचरकरणाऽऽत्मा चेति द्विविधः साकल्येन चतुर्विधः पर्याय इति हृदयम् । क्रमेण यथा— स्थिताः क्षणं पद्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

बलीषु तस्याः स्वलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदविन्दवः ॥१२५॥ [कुमा.]
विस्मृष्टरागादधरात्रिवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुराऽऽदानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तथा करः ॥१२६॥ [कुमा.]

चेति । एवं द्विविधस्य पर्यायस्य गोचरभवनत्माना, गोचरकरणात्मना चातुर्विध्यं प्राप्नोति इति चतुर्विधः पर्याय इति हृदयम् ।

एकस्य वस्तुनः अनेकगोचरभवनत्मा पर्याय उदाह्रियते—स्थिता इति । पार्वत्या-स्तपः—काले प्रथमोदविन्दवः प्रथमजलकणाः । तस्या पार्वत्याः पद्मसु क्षणं किञ्चित् कालं स्थिताः स्थितिं प्राप्तास्ततः ताडितः अधरो यैस्ते ताडिताधराः पीडिताधराः । पयोधरयोः उत्सेधे उच्छ्रूये उन्नतस्थले निपातेन चूर्णिताः त्रुटिताः विशीर्णा इत्यर्थः । वलिषु त्रिवलिषु स्वलिताः पतिताः क्रमेण आनुपूर्व्येण नाभिं प्रपेदिरे प्रापुः । तत्र गता इत्यर्थः । नाम्नेः गम्भीरत्वमनेन प्रतिपाद्यते । अत्र एकस्य उद्विन्दुरूपस्य वस्तुनः पद्माधरपयोधरत्रिवलीनाभिरूपानेकवस्तुगोचरभवनत्माना वर्णनम् इति प्रथमः पर्यायः ।

द्वितीयं पर्यायमुदाहरति—विस्मृष्टेति । विस्मृष्टं रागं यस्मात् विगतरागात् अधरात्, निम्नोष्ठस्थलात्, स्तनरूपस्याङ्गस्य रागेनारुणितात् कन्दुकात्, निवर्तितः प्रत्यावृत्तः । कुशस्याङ्कुरस्तस्यादानं तेन परिक्षता अङ्गुलिः यस्य स कुशाङ्कुरग्रहणपरिक्षताङ्गुलिः करः हस्तः तथा पार्वत्या अक्षसूत्रस्य प्रणयी अक्षसूत्रसखः कृतः विहितः ।

अत्र एकस्य कररूपस्य वस्तुनः अधरकन्दुककुशाङ्कुराक्षसूत्ररूपानेकवस्तुगोचरकरणात्मा द्वितीयः पर्यायः ।

अनेकगोचरकरणरूप इस प्रकार प्रयोग दो प्रकारका हुआ । और अनेक वस्तुका एक गोचरभवनरूप, एक गोचरकरणरूप इस प्रकारसे भी दो प्रकारका हुआ । अतः सब जोड़कर चार प्रकारका पर्याय अलङ्कार होता है ।

“वर्षाका प्रथम जल बिन्दु जब पार्वतीके ऊपर पड़ा तो क्षणभर पलक पर पड़ा, उसके बाद ओष्ठपर आया, तदनन्तर उन्नतपयोधरोपर गिर कर चूर चूर हो गया और वहाँसे दुलक कर त्रिवलियोंमें, तथा इसी क्रमसे नाभिमें प्रवेश कर गया ।”

“पार्वतीने अपने होठोंका रंगना बन्द कर दिया अतः हाथोंको वहाँसे भी हटाकर और स्तनके अङ्गरागसे रञ्जित कन्दुकसे भी हटाकर, कुशके अङ्कुरके ग्रहणसे रण-अङ्गुलियोंको अक्षसूत्रका प्रेमी बना दिया ।”

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो ! प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।

अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥१२७॥ [मम्मटः]

तद्गोहं नतभित्ति, मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः

सा धेनुर्जरती, नदन्ति करिणामेता घनाऽऽभा घटाः ।

स क्षुद्रो मुसलध्वनिः, कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-

माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥१२८॥ [मम्मटः]

अनेकस्य वस्तुनः एकगोचरभवनात्मा तृतीयपर्यायः उदाह्रियते—मद्विवृत्ति। प्रथमं प्राक् खलानां दुष्टानां वचः वचनं मधुरिम्णा रुचिरं माधुर्यमनोहरम् पृथु अत्यन्तम् अमृतं व्यनक्ति अमृतं व्यञ्जयति । अथ तदेव खलवचनमेव अन्तर्गतं पीतं सत् मोह-हेतुर्मोहकारणं हालाहलं (हाला हालहलं विषं इति त्रिकाण्डशेषः) विषमिव कथयति प्रकटयति । अत्र अनेकस्य अमृतत्वेन प्रतीयमानस्य खलवचनसमूहस्य हालाहल-रूपैकगोचरभवनात्मा तृतीयः पर्यायः ।

अनेकस्य वस्तुनः एकगोचरकरणात्मा चतुर्थ उदाह्रियते—तद्गोहमिति । तस्य गोहं तद्गृहं नता पतनोन्मुखीभूता भित्तिः यस्य तत् नतभित्ति आसीदिति शेषः । इदं दृश्यमानं मन्दिरं गृहं दिवः स्वर्गस्य लब्धावकाशं तत् स्पर्धि अस्ति इति शेषः । सा जरती धेनुः सा वृद्धा गौः एता पुरोदृश्यमाणा करिणां हस्तिनां घनाभाः मेघतुल्याः घटाः नदन्ति नादं कुर्वन्ति । स क्षुद्रो स्वहातमः मुसलध्वनिः क्षुब्धशब्दः अन्नादेः न्यूनत्वात् मुसलध्वनेः क्षुब्धत्वम् । इदम् अधुना योषितां स्त्रीणाम् कलं मनोहरं संगीतकम् गानं विभाति इति शेषः । दिवसैः कतिपर्यैरिति शेषः । अयं द्विजः ब्राह्मणः इयतिम् एतावतीं भूमिं समारोपित इति अहो आश्चर्यम् । सुदामानमवलोक्य कस्यचित् पथिकस्योक्तिरियम् । अत्र दारिद्र्यकालीनानां नतभित्तिमन्दिरादीनाम् अनेकेषाम् एकत्रैव द्विजे स्वामित्वसन्वन्धेन वरणम् चतुर्थः पर्यायः ।

“दुष्टोंके वचन मधुर और मनोहर होते हैं और पहले पहल अत्यन्त अमृतके समान मालूम पड़ते हैं । किन्तु यहां कठोर विषके समान जब वह अन्तरङ्ग वन जाता है तो मोहका कारण बता देता है ।”

“वह टेढ़ी भीतवाला घर आज गगनचुम्बी अट्टालिका बन गया, जहां वह बुढ़िया धेनु थी वहां आज हाथियोंके, झुण्ड मेघके समान गर्ज रहे हैं । जहां मुसलकी क्षुद्र ध्वनि थी वहां स्त्रियोंका मनोहर गान हो रहा है । यह आश्चर्य है कि थोड़े ही दिनोंमें यह ब्राह्मण (सुदामा) इस अवस्था पर पहुंचा दिया गया ।”

परिसंख्या—

‘प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।

तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥

परिसंख्या’ चतुर्भेदा दर्पणे समुदीरिता ॥

प्रश्नं कृत्वा प्रश्नमकृत्वा वा शब्दसाहाय्येन अर्थसामर्थ्याद्वा कस्माच्चित् वस्तुनः कस्यचिद्वस्तुनः व्यवच्छेदः यदा प्रदर्श्यते, तदा परिसंख्या नाम अलङ्कारः । अथञ्च प्रश्नपूर्वकं कस्माच्चित् वस्तुनः कस्यचिद्वस्तुनः कस्यचिद्वस्तुनः शाब्दः व्यवच्छेदरूप इत्येकः, आर्थः पुनः द्वितीयः, एवं प्रश्नमन्तरा कस्माच्चित् वस्तुनः कस्यचित् वस्तुनः शाब्दः व्यवच्छेदरूप इति तृतीयः, आर्थः पुनश्चतुर्थः, साकल्येन चतुर्भेदः । क्रमेण यथा—
किं भूषणं सुदृढमत्र ? यशोः, न रत्नं,

परिसंख्यालङ्कारं लक्षयति—प्रश्नादिति । प्रश्नात् कस्यचिद् जिज्ञासामाश्रित्य अप्रश्नतो वापि कस्यचित् जिज्ञासामनाश्रित्यापि वा कथितात् केनचिद्विविच्याभिहितात् वस्तुनः पदार्थात् चेद् यदि शाब्दः शब्देनैव बोध्यः अथवा आर्थः अर्थपर्यालोचनाया गम्यः तादृशः कथितसदृशः अन्यस्य वस्तुनः व्यपोहः प्रतिषेधो भवेत् तदा परिसंख्या नाम अलङ्कारो भवेत् । तेन प्रश्नपूर्वककथनादप्रश्नपूर्वककथनाच्च द्विधा । एवं च शाब्दः आर्थश्चेति चतुर्विधा परिसंख्या वैचित्र्यमलंकारः । तेन ‘पञ्चपञ्च नखा भक्ष्याः’ इति न परिसंख्यालङ्कारः । इति भावः । इति दर्पणे परिसंख्या लक्षणमुदीरितमित्यर्थः । एतदेव विशदयति—अथञ्चेति ।

प्रश्नपूर्वककथने शाब्दी परिसंख्यामुदाहरति—किमिति । अत्र अस्मिन् संसारे

परिसंख्या—प्रश्न पूर्वक या अप्रश्न पूर्वक कही हुई वस्तुसे अन्य वस्तुका व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) शब्द सामर्थ्यसे या अर्थतः प्रतीत हाता हो वह परिसंख्या अलङ्कार है । और वह चार प्रकारका होता है जैसा दर्पणमें कहा गया है ।

प्रश्न करके अथवा प्रश्न न करके शब्दसहायतासे या अर्थसामर्थ्य द्वारा किसी वस्तुसे किसी वस्तुका जहां व्यवच्छेद किया जाता हो, वहां परिसंख्या अलङ्कार होता है । यह प्रश्नपूर्वक किसी वस्तुसे किसी वस्तुका शाब्द व्यवच्छेदरूपी एक भेद । इसी प्रकार आर्थ व्यवच्छेद रूपी दूसरा भेद । इसी प्रकार प्रश्नके विना किसी वस्तुसे किसी वस्तुका शाब्द व्यवच्छेदरूपी, तृतीय भेद । और आर्थ व्यवच्छेदरूपी चतुर्थ भेद । इस प्रकार कुल योगसे चार प्रकारका है । क्रमसे जैसे—

“इदंभूषणं क्रया है ? यश, रत्न नहीं; कर्तव्य क्या है उत्तमाचरण सुकृत दुष्ट चरित

किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं, न दुष्टम् ।

किं चक्षुरप्रतिहतं ? धिषणा, न नेत्रं,

जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ? ॥ १२६ ॥

अत्र किमिति प्रश्नपूर्वकं यश आदेः रत्नाऽऽदेः व्यवच्छेदः शाब्दः,
नञा साक्षात् तस्याभिधानात् ।

किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः,

किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।

किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयञ्च ? करुणा,

यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥१३०॥ अ. स.

सुदृढं चिरस्थायि भूषणमलङ्कारः किं ! यशः कीर्तिः रत्नं न नहि । तस्य नाशयत्वा-
दित्यर्थः । कार्यं कर्तव्यं किम् ? आर्याणां चरितं । आर्यजनकृतं सुकृतं पुण्यं कर्म
दोषो न नहि । आर्यैः कृतं सुकृतमेव कर्म दुष्कृतं नेति भावः । अप्रतिहतं निर्वाधं
चक्षुः नेत्रं किं धिषणा बुद्धिः नेत्रं न नहि । चक्षुषः व्यवधाने गत्यभावात् । इति
प्रश्नोत्तरं श्रुत्वा वदति । त्वदपरः त्वत्तो भिन्नः सदसद्विवेकं कः जानाति न कोपीत्यर्थः ।

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दं शब्देनैव बोध्यते तस्य नञा कथनादिति ।

प्रश्नपूर्वककथने आर्थीपरिसंख्यामुदाहरात्—किमासेव्यमिति । पुंसां जनानाम्
आसेव्यं सेवितुं योग्यं किं द्युसरितः गङ्गायाः अनवद्यं सविधं तटमित्यर्थः । एकान्ते
ध्येयं ध्यातुं योग्यं किम् ? । कौस्तुभं विभक्तिं इति कौस्तुभभृत् तस्य विष्णोः चरणयुगलं
चरणद्वयम् । आराध्यं किम् उपार्जनीयं किं ? पुण्यं सुकृतमित्यर्थः । अभिलषणीयञ्च किं
करुणा परपीडासहत्वम् । यस्या आसक्त्या यद्वशीभूतश्चतः निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति
प्रभुर्भवति ।

नहीं । अप्रतिहत नेत्र क्या है बुद्धि, नेत्र नहीं । तुमको छोड़ कर सत् और असत् का
विवेक कौन कर सकता है ।”

यहां ‘किं’ इस प्रश्नके यश आदि शब्दोंसे रत्न आदि शब्दोंका व्यवच्छेद किया
गया है वह भी (न) शब्द से कहा गया है अतः शाब्द हुआ ।

“पुरुषोंको क्या सेवन करना चाहिए, परम प्रवित्र गङ्गाका तट । एकान्तमें किसका
ध्यान करना चाहिए, कौतुक धारण करनेवाले नारायणका चरण युगल । आराधना
किसकी करनी चाहिए ? पुण्यकी । अभिलाष किसका करना चाहिए ? करुणाकी जिस
करुणाकी आसक्तिसे निरवधि चित्त सर्वदा मोक्षके लिए समर्थ हो जाय ।”

अत्र प्रतिषेधकस्य नञः व्यवच्छेद्यस्य पानगोष्ठ्यादेश्च शब्देनानु-
पात्तत्वात् किम्पदेन प्रश्नपूर्वकम् आर्थो व्यपोहः ।

भक्तिर्भवे, न विभवे, व्यसनं शास्त्रे, न युवतिकामास्त्रे ।

चिन्ता यशसि न वपुषि, प्रायः परिदृश्यतेमहताम् ।

अत्र किमादेरभावात् प्रश्नाभावः, अथापि विभवाऽऽदेर्व्यच्छेदो
यः, स शाब्दः, नञा तदभिधानात् ।

सोऽर्थो यो निजहस्ते, तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।

तद्रूपं यत्र गुणाः, तद्विज्ञानञ्च यत्र धर्मः स्यात् ॥ १३२ ॥

अत्र व्यवच्छेद्यस्य व्यवच्छेदकस्य च अनुपादानाद् आर्थः ।

अत्र व्यवच्छेद्यस्य पानगोष्ठोवाराङ्गनादेः प्रतिषेधकस्य नञः शब्देनाकथनात्
अर्थत एव प्रतीयते यत् पानगोष्ठिरसेवेति

अप्रश्नपूर्वककथने शाब्दीं परिसंख्यामुदाहरति—भक्तिरिति । भक्तिः भावः भवे
शिवे विभवे सम्पत्तौ न नहि । व्यसनं शास्त्रे युवतिरूपे कामास्त्रे कामवाणे नहि । चिन्ता
यशसि कीर्तौ वपुषि शरीरे न नहि । प्रायः महतां महासत्त्वशालिनां परिदृश्यते ।

अत्र किमादि—प्रश्नवाचकशब्दानामभावात् प्रश्नाभावः । अतः अप्रश्नपूर्वको
विभवादेर्व्यच्छेदः नञा उच्यते ।

अप्रश्नपूर्वककथने आर्थोमुदाहरति—स इति । सोऽर्थः तद्धनं यः निजहस्ते
स्वहस्तगतं वर्तते । तत् मित्रं स सुहृत् यत् व्यसने सम्पत्तौ विपत्तौ च निरन्तरं सन्निहितः ।
तद्रूपं यत्र रूपे गुणाः शौर्यादयः । तद्विज्ञानं च तदेव ज्ञानं यत्र धर्मः स्यात् यत्र
धर्मः दृश्यते । अत्र व्यवच्छेद्यस्य अन्यगृहस्थितस्य धनस्य व्यवच्छेदकस्य नञः
अनुपादानात् आर्थं आरोप्यते इति आर्थो परिसंख्याभ वति ।

यहां प्रतिषेधक नञका व्यवच्छेद पानगाष्ठी आदिका शब्दसे कथन न होने पर
भी 'किं' इस प्रश्न वाचक पदसे अर्थतः व्यवच्छेद सिद्ध हो गया ।

“प्रायः बड़े लोग भक्ति भवमें, विभवमें नहीं । व्यसन शास्त्रमें, युवतिके कामास्त्रमें
नहीं । चिन्ता शरीरके लिए नहीं करते । यहां 'किं' शब्दके न रहनेसे कोई प्रश्न
नहीं है और विभव आदिका व्यवच्छेद भी शब्दसे है क्योंकि (न) शब्द से
कहा गया है ।

“वही अर्थ है जो अपने हाथ में है । वही मित्र है जो सदा सुख दुःखमें रहे ।
वही रूप है जिसमें गुण हैं और वही ज्ञान है जिसमें कर्मका स्थान हो ।”

यहां व्यवच्छेद्य और व्यवच्छेदक किसी शब्दका उपादान न होनेसे सब आर्थ है ।

तद्गुणः—

‘स्वमृतसृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य तत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥’ [मम्मटः]

कस्यचित् सम्बन्धेन आत्मगुणं परित्यज्य स्वापेक्षया उत्कृष्टस्य गुणं गृहीत्वा तथाभवनं तद्गुणः । यथा—

जगाद् वदनच्छुद्धपद्मपर्यन्तपातिनः ।

नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥ १३३ ॥ [शिशु.]

उदात्तम्—

‘लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥’ [विश्वनाथ]

तद्गुणालङ्कारं लक्षयति—स्वमिति । यत् वस्तु अत्युज्ज्वलगुणस्य योगात् सम्बन्धात् स्वं स्वकीयं गुणम् उत्सृज्य परित्यज्य तद्गुणतामत्युज्ज्वलगुणस्य गुणतामेति स तु तद्गुणः भण्यते उच्यते । स्वयमेव विवृणोति—कस्यचिदिति । तथाभवनं तद्गुणरूपताप्राप्तिः तद्गुण इत्यर्थः ।

उदाहरति—जगादेति । बलरामः वदनस्य छद्मैव पद्मं वदनं = छद्मपद्मं कपटकमलमित्यर्थः । तस्य पर्यन्ते प्रान्ते पतन्ति सञ्चरन्ति ये तान् मधुलिहः भ्रमरान् उद-
ग्रायेदशनांशवस्तैः उदग्रदशनप्रभाभिः श्वैत्यं धावत्यम् नयन् प्रापयन् जगाद् उवाच ।

अत्र दन्तप्रभाभिर्योगात् कृष्णवर्णा अपि भ्रमराः श्वैत्यमभजन् इति अत्युज्ज्वल-
गुणस्य दशनकान्तेः सम्बन्धात् भ्रमराः स्वकीयं गुणं कृष्णतारूपं परित्यज्य तद्गुणतां
दशनगुणतां श्वैत्यमित्यर्थः अभजन् इति । तद्गुणालङ्कारः ।

उदात्तालङ्कारं लक्षयति—लोकेति । लोकानतिशेते इति लोकातिशया या सम्प-
त्तिस्तस्या वर्णना उदात्तालङ्कार उच्यते इत्येकः कल्पः । अपरमाह—यद्वेति । यद्वा

तद्गुण—किसीके सम्बन्धसे अपने गुणको छोड़कर अपनी अपेक्षा उत्कृष्ट गुणको
अपनाकर उस रूपमें होना तद्गुण कहा जाता है ।

जैसे—“मुखरूपी कमलके चारों ओर घूमनेवाले भ्रमरोंको अपने उज्ज्वल दन्त
किरणोंसे उज्ज्वल बनाते हुए बलरामजी बोले ।”

उदात्त—लोकोत्तर सम्पत्तिका वर्णन अथवा प्रस्तुत वर्णनका अङ्ग महात्माओंका
चरित हो तो उसे उदात्त अलङ्कार कहते हैं । जैसे—

यत् अलौकिकायाः सम्पत्तेः वर्णनं, यदि वा प्रस्तुतस्याङ्गं महात्मनां चरित्रं स्यात्, तदुभयविधम् उदात्तम् । क्रमेण यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः

प्रातः प्राङ्गणसीमि मन्थरचलद्वालाऽङ्घ्रिलाक्षाऽरुणाः ।

दूरात् दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः

यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्यागलीलायितम् ॥ १३४ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहाऽऽसनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।

अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिरोते ॥ १३५ ॥ [रघु०]

अथवा प्रस्तुतस्य प्रकरणप्राप्तस्याङ्गमुपकारकं महतां महात्मनां चरितं भवेत्तदपि वर्णनाविषयः सोऽपि उदात्तालङ्कार इत्यर्थः ।

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णानामुदाहरति—मुक्ता इति । हे भोजनृपते ! यत् विदुषां भवनं तेषु विद्वद्भवनेषु पण्डितानां कवीनां वा गृहेषु केलौ कामक्रीडायां विसूत्रा श्रुतिसूत्राः ये हाराः तेभ्यः गलिताः पतिताः सम्मार्ज्यते अभिरिति सम्मार्जन्यस्ताभिः सम्मार्जनीभिः हृताः एकत्रीकृताः प्रातःकाले अङ्गणस्य सीमा तस्मिन् मन्थरं चलन्ती या बाला तस्या अङ्घ्रिलाक्षया अरुणाः रक्तवर्णाः मुक्ताः मौक्तिकानि दूरात् दाडिमबीजैः शङ्कितः सन्दिग्धा धीः बुद्धि येषां ते केलीशुकाः कीडार्थं पोषिताः शुकाः कर्षन्ति । तत् कर्षणादिकं त्वत् भवतः त्यागस्य दानस्य लीलायितं विलसितम् ।

अत्र अनेन सन्दर्भजातेन त्वद्गता सम्पत्तिः ब्राह्मणानां गृहेऽपि शोभते अतस्ते अलौकिकी सम्पत्तिरिति उच्यते इति भावः ।

प्रस्तुप्रकरणोपकारकं महतां चरितमुदाहरति—नाभीति । युगान्ते प्रलये उचिता आभ्यस्ता योगनिद्रा यस्य स पुरुषः विष्णुः नाभौ प्ररूढं यत् अम्बुरुहं कमलं तदेवासनं यस्य तेन प्रथमेन मुखेन धात्रा ब्रह्मणा संस्तूयमानः स्तूयमानः लोकान् जगन्ति संहृत्य संक्षिप्य कुक्षविति शेषः । अमुष्मिन् शेते अधिरोते समुद्रवर्णनमिदम् ।

“हे भोजराज ! जो विद्वानोंके घरमें कामक्रीडामें डूटे हुए हारोंसे गिरे हुए मोतीमार्जनीसे बटोरे जाते हैं । प्रातः काल अंगनेकी सीमामें चलनेवाली नवयुवतियोंके चरणमें लगे हुए आलककसे रंग उठती हैं । जिन्हें दूरसे अनारका बीज समझकर केलीशुक अपनी ओर खींचते हैं । यह आपके दानकी सब लीला है ।”

“नाभिमें उत्पन्न कमलपर आसन जमाए हुए प्रथम ब्रह्मासे जिनकी स्तुति होती रहती है । और युगान्तमें उचित योगनिद्राको साधकरलोकोंका संहारकर परमपुरुष इसीपर सोते हैं ।”

सूक्ष्मम्—

‘संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थमाकारेणो ङ्ङितेन वा ।

कयाऽपि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥’ [विश्व०]

यत्र आकारेण, कयाचित् वा अन्यथा चेष्टया, सूक्ष्मरूपेण प्रतीतः
अर्थः कयाऽपि भङ्ग्या पुनः आविष्कियते, तत् सूक्ष्मम् । यथा—
पिद्धानमन्वगुपगम्य दृशौ ब्रुवते जनाय वद कोऽयमिति ।

अभिधातुमध्यवससौ न गिरा पुलकैः प्रियं नववधूर्न्यगदत् ॥१३६॥ [माघः]

भाविकम्—

‘अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥’ [विश्व०]

भूतस्य भविष्यतो वा अद्भुतस्य वस्तुनः प्रत्यक्षवत्त्वेन वर्णनं भाविकं

अत्र महात्मनः नारायणस्य चरितं प्रस्तुतस्य समुद्रमाहात्म्यवर्णनस्याङ्गम् । इ ति
द्वितीयः प्रकारः उदात्तालङ्कारस्य ।

सूक्ष्मालङ्कारं लक्षयति—संलक्षितस्त्विति । तु शब्दः पूर्वप्रकरणभेदद्योतनार्थः ।
यत्रेति च यदर्थेऽव्यम् । तथा च आकारेण चित्राद्याकृतिविशेषेण इङ्ङितेन भ्रूनेत्रादि-
भङ्ग्या वा संलक्षितः सम्यगवगतः सूक्ष्मः सूक्ष्मबुद्धिवेद्यः अर्थो विषयः कयापि भङ्ग्या
विदग्धव्यवहारेण यत्र यत् सूच्यते संलक्ष्यते परस्मै ज्ञाप्यते इत्यर्थः । तत् सूक्ष्मं नामा-
लङ्कार उच्यते कथ्यते । सूक्ष्मबुद्धिवेद्यत्वादस्य सूक्ष्म इति संज्ञा अत एव स्थूलमति-
भिरलक्ष्य इत्यर्थः ।

उदाहरति—पिद्धानेति । नववधूः नवोढा अन्वक् पश्चात् उपगम्य दृशौ पिद्-
धानं छादयन्तं प्रियं पतिं वल्लभमित्यर्थः । कोयं वद इति ब्रुवते पृच्छते जनाय गिरा
वाचा अभिधातुं कथयितुं नाध्यवससौ नोत्सहे लज्जया इति भावः । किन्तु पुलकैः
रोमोद्गमैः न्यगदत् अचकथत् । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

अत्र आर्थस्य प्रियज्ञानस्य लज्जया अकथितस्य पुलकैः प्रकाशनात् सूक्ष्मालङ्कारः ।

भाविकालङ्कारं लक्षयति—अद्भुतस्येति । अद्भुतस्य आश्चर्यस्य भूतस्य अती-

सूक्ष्म—आकार, चेष्टा या किसी प्रकारकी वचनचातुरीसे जो सूक्ष्म अर्थ प्रतीत
होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं । जैसे—

“पीछेसे आकर पतिके आँख मूँदनेपर किसीने कहा कि “पहचानो कौन है” नववधूने
शब्दसे कुछ न कहकर केवल अपने पुलकोंसे ही “प्रिय है” ऐसा उसको उत्तर दिया ।”

भाविक—अद्भुत, भूत या भविष्य पदार्थका जो प्रत्यक्षके समान प्रतीति

नामालङ्कारः । यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।

येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥ १३७ ॥

विनोक्तिः—

‘विनोक्तिश्चेद्विना किञ्चित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते ।’ [चन्द्रालोकः]

यदि विनाऽर्थकेन पदेन किमपि प्रस्तुतं विहीनत्वेन वर्ण्यते, तर्हि विनोक्तिः । यथा—

विनयेन विना का श्रीः ? का निशा शशिना विना ? ।

रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ? ॥ १३८ ॥

तस्य अथवा भविष्यतः भाविनः पदार्थस्य यत् प्रत्यक्षयमाणत्वं वर्णनाकौशलेन प्रत्यक्षवत् प्रकाशमानत्वं तत् भाविकमुदाहृतम् ।

उदाहरति—**मुनिरिति** । योगिनामिन्द्रः श्रेष्ठो महात्मा कुम्भसम्भवो घटोत्पन्नः मुनिः अगस्त्यः जयति उत्कर्षेण वर्तते । येन मुनिना एकस्मिन् चुलुके दिव्यौ स्वर्गीयौ तौ नारायणावतारत्वेन प्रसिद्धौ मत्स्यकच्छपौ दृष्टौ अवलोकितौ ।

अत्र समुद्रपानकाले स्वस्यैकस्मिन् चुलुके एव अद्भुतस्य भगवतः दर्शनस्य भूतस्य जयतीति वर्तमानकालनिर्देशेन श्रोतॄणां प्रत्यक्षयमाणत्वात् भाविकालङ्कारः ।

विनोक्तिं लक्षयति—**विनेति** । विना विनार्थकेन ऋते अन्तरेण, निर, निस्, रहित, वर्जित, शून्य, नञादिना प्रस्तुतं प्रकृतं हीनं विहीनमुच्यते वार्यते तर्हि विनोक्तिर्नामालङ्कारः ।

उदाहरति—**विनयेनेति** । विनयेन नम्रतया विना श्रीः शोभा का न कापीत्यर्थः शशिना चन्द्रमसा विना रहिता निशा रात्रिः का अशोभना इत्यर्थः । वाचां विदग्धता वाग्विदग्धता वाक्चातुरी सत्कवित्वेन रहिता विहीना कीदृशी व्यर्था इत्यर्थः । अत्र विना विनार्थकेन रहितादि शब्देन च प्रस्तुतस्य श्रियादेः हीनत्वप्रति-

(अनुभव) हो उसे भाविक कहते हैं । जैसे—

“घड़े से उत्पन्न होनेवाले वे महात्मा योगीन्द्र मुनि अगस्त्य सबसे श्रेष्ठ हैं जिन्होंने अपने एकही चित्तलू जलमें दिव्य मत्स्य और कच्छपको देख लिया ।”

विनोक्ति—विनार्थक पदोंसे जहां प्रस्तुत किसी वस्तुका हीन रूपसे वर्णन हो उसे विनोक्ति कहते हैं ।

“विनयके विना लक्ष्मी क्या, चन्द्रमाके विना रात्रि क्या, सत्कवित्वसे रहित वाक्चातुर्य क्या वस्तु है । अर्थात् व्यर्थ है ।

पर्यायोक्तम्—

‘पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।’ [विश्व०]

भङ्ग्या—प्रकारान्तरेण, गम्यमेव—व्यञ्जनावोध्यमेव । यथा—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।

सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥ १३६ ॥ [हयग्री०]

व्याजोक्तिः—

‘व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।’ [विश्व०]

वरेण ज्ञायमानस्याप्यर्थस्य केनापि कपटेन गोपनं व्याजोक्तिः ।

यथा—आयान्तमालोक्य हरिं प्रतोल्यामाल्याः पुरस्तादनुरागमेका ।

पादनात् विनोक्तिरलङ्कारः ।

पर्यायोक्तं लक्षयति—पर्यायोक्तमिति । यदा भङ्ग्या गम्यं प्रतीयमानमेवाभिधीयते उच्यते तदा पर्यायोक्तं भवेदित्यर्थः ।

उदाहरति—स्पृष्टेति । यस्य हयग्रीवस्य सैनिकैः भटैः नन्दने नन्दनाख्ये वने शच्याः इन्द्राण्याः केशसम्भोगलालिताः केशानां सम्भोगाय भूषणाय लालिताः पालताः पारिजातस्य कल्पवृक्षस्य मञ्जर्यः पल्लवांकुराः सावज्ञं सतिरस्कारं स्पृष्टाः करेण मृदिताः ।

अत्र गम्यं स्वर्गविजयरूपं वस्तु सावज्ञं पारिजातस्येत्यादिवाक्येन भङ्ग्यन्तरेणोक्तमिति पर्यायोक्तमलङ्कारो भवति ।

व्याजोक्तिं लक्षयति—व्याजोक्तिरिति । व्यक्तस्यापि वस्तुनः अर्थस्य व्याजात् कारणान्तरेण गोपनं व्याजोक्तिः ।

उदाहरति—आयान्तमिति । एका काचित् वामा सुन्दरी प्रकर्षेण तोह्यते यस्यां सा प्रतोली तस्यां प्रतोल्यां रथ्याम् आयान्तं आगच्छन्तं हरिं कृष्णमालोक्य दृष्ट्वा एनं हरिं प्रणमन्ती वन्दमाना आल्याः सख्याः पुरस्तात् समक्षम् । रोमाञ्चकम्पादिभिः रोमाञ्चवेपथुभिरङ्गविकारैः । उच्यमानं शुष्यमाणम् अनुरागं प्रेम जुगूह गोपि-

पर्यायोक्तम्—

पर्यायोक्तं उसे कहते हैं जहां प्रकारान्तसे व्यञ्जना बोध्य वस्तुका वर्णन हो ।

“इन्द्राणीके केश शृङ्गारके लिपु रक्षित नन्दन वनके पारिजात वृक्षके पुष्पोंको हयग्रीव नामक राक्षसके सैनिकोंने तिरस्कारके साथ स्पर्श किया ।”

व्याजोक्ति—प्रकट वस्तु का प्रकरणान्तरसे छिपाना व्याजोक्ति अलङ्कार है ।

रोमाञ्चकम्पाऽऽदिभिरुच्यमानं वामा जुगूह प्रणमन्त्यथैतम् ॥१४०॥

[कुवल्या०]

वक्रोक्तिः—

‘वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम् ।’ [कुवल्या०]

श्लेषेण काक्वा वा अभिहितस्य वाक्यस्य अभिप्रायान्तरपरतया योजनं वक्रोक्तिः । तथा चेयं श्लेषमूला, काकूक्तिमूला चेति द्विविधा । क्रमेण यथा—

अहो ! केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ? ।

त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥ १४१ ॥ [कुवल्या०]

गुरुपरतन्त्रतया वत ! दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।

तवती । अत्र रोमोद्गमादिना उद्भिन्नस्य प्रकटस्य कृष्णानुरागस्य प्रणामादिना गोपनं व्याजोक्तिः ।

वक्रोक्तिं लक्षयति—वक्रोक्तिरिति । श्लेषकाकुभ्याम् अपरार्थस्य अभिप्रायान्तरस्य प्रकल्पनं योजनं वक्रोक्तिः । तथा च श्लेषमूला अपरार्थप्रकल्पिका, काकुमूला अपरार्थप्रकल्पिका चेति द्विविधा वक्रोक्तिः ।

श्लेषमूलामुदाहरति—अहो इति । अहो आश्चर्यम् । ईदृशी दारुणा भयङ्करी तव भवतः बुद्धिः केन निर्मित रचिता । अर्थान्तरमाह—अहो केन प्रसिद्धेन दारुणा काष्ठेन तव बुद्धिः निर्मिता । उत्तरयति—बुद्धिस्तु त्रिगुणा श्रूयते सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणरूपा श्रूयते, दारुमयी काष्ठमयी तु क्वचित् कुत्रापि न श्रूयते इति भावः ।

अत्र दारुणा इति पदस्य भयङ्कररूपो काष्ठरूपो वार्थः श्लिष्टः तेन प्रथमार्थस्य श्लेषेण दारुणशब्देन अपरार्थस्य काष्ठरूपस्य प्रकल्पनं वक्रोक्तिः ।

काकुमूलामुदाहरति—गुरुपरेति । हे सखि असौ मम वल्लभः गुरुणां परतन्त्र-

“भगवान् कृष्णको गलीसे आते देखकर सखीके सम्मुख रोमाञ्च और कर्मसे प्रकट होनेवाले अनुरागको नायिकाने प्रणाम करके छिपा दिया ।”

वक्रोक्ति—श्लेष और काकुके द्वारा जहां अर्थान्तरका ज्ञान हो उसे वक्रोक्ति कहते हैं । वह दो प्रकारकी है, एक श्लेषमूला, दूसरी काकुमूला ।

उदाहरण—“अरे तुम्हारी इस बुद्धिको दारुण । किसने बनाया । भाई ! अबतक तो त्रिगुणा बुद्धिको सुना था, लकड़ी की बुद्धि नहीं ।

यहां दारुणा—भयंकर और काष्ठसे दो अर्थ दारुण पदमें श्लिष्ट ह ।

“अपने पूज्योंकी आज्ञासे दूर देश जानेके लिए प्रस्तुत प्रियतम, हे सखि क्या

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ? ॥ १४२ ॥

[अलङ्कारसर्वस्वम्]

आक्षेपः—

‘आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ।’ [मम्मटः]

स्वाऽऽत्मनैव कर्तव्यत्वेन उक्तस्य अर्थस्य विचारदशायां किञ्चित् प्रयोजनान्तरमनुसन्धाय प्रतिषेधः आक्षेपः । यथा—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णाभृतं रक्षत हे कवीन्द्राः !

यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

तथा वशंवदतया वत खेदे दुरतरं देशं गन्तुमुद्यतः प्रवृत्तः । अलिकुलेन भ्रमरसमूहेन कोकिलैः पिकैश्च ललिते सुन्दरे सुरभिसमये वसन्तसमये नैष्यति न गमिष्यति किं ? अपि तु आगमिष्यति एवेति काकुः । “भिन्नकण्ठध्वनिर्धोरैः काकुरित्यभिधीयते ।” इति तल्लक्षणात् । अत्र नागमिष्यति इत्यर्थस्य काका आगमिष्यति इति अपरार्थ-प्रकल्पनरूपा वक्रोक्तिः ।

आक्षेपं लक्षयति—आक्षेप इति । स्वयमात्मनैव उक्तस्य कथितस्य विचारणात् अनुसन्धानेन प्रतिषेधः निषेधः आक्षेपः ।

उदाहरति—साहित्येति । हे कवीन्द्राः कविश्रेष्ठाः । साहित्यमेव पाथोनिधिः पयो-धिस्तस्य मन्थनादुत्थितं सजातं कर्णायोरभृतं कर्णाभृतं रक्षत पालयत । यत् यस्मात् कारणात् तस्य काव्याभृतस्य लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः काव्यार्थापहारिणः । दैत्याः इव राक्षसा इव प्रगुणी भवन्ति एकत्रीभवन्ति इत्यर्थः ।

अनेन श्लोकेन काव्यार्थरक्षार्थं कवयः सावधाना कृताः ।

कोकिलके कलालापसे मनोहर समय वसन्तमें नहीं आ जायगें? अवश्य आ जायंगे ।”

आक्षेप—स्वयं जिस वस्तुको कर्तव्य समझकर कहे और विचारकर उसका पुनः निषेध करदे उसे आक्षेप कहते हैं । जैसे—

“साहित्य समुद्रके मन्थनसे निकले हुए कर्णको सुखदेने वाले अमृतकी हे कवीन्द्र ! रक्षा करो । क्योंकि दैत्योंके समान काव्यार्थोंके चोर कवि उसके लूटनेके लिए एकत्रित हो रहे हैं ।

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमत्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥१४३॥ [कुवल्या०]

इति अष्टमशिखालोकः ।



ततः अस्यार्थं विचार्य पुनः वदति यत्, गृह्णन्तु इति । यदि वा अथवा सर्वे यथेच्छं गृह्णन्तु चोरयन्तु कापि कवीश्वराणां कविश्रेष्ठानां क्षतिः हानिर्नास्ति बहुषु-
रत्नेषु लुप्तेषु नष्टेषु मत्यैः मनुष्यैः अद्यापि अधुनापि सिन्धुः सागरः रत्नाकर रत्ना-
नामाकर एव उच्यते इति शेषः ।

अत्र पूर्वश्लोकेन पूर्वनियतार्थास्य रक्षारूपस्य अपरश्लोकेन निषेध इति आक्षे-
पालङ्कारः स्फुट एव । चोरकविलक्षणमाह हर्ष-चरिते—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः । अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥ इति ।

अस्यार्थः—अन्येषां वर्णानां परावृत्त्या बन्धचिह्नानां निगूहनैश्च सतां विदुषां
मध्ये अनाख्यातः अप्रसिद्धः चोरः अन्यकाव्यचोरः कविः कवित्वप्रख्यापकः विभाव्यते
प्रतीयते । हर्षचरिते कविचौराणां निन्दायामयं श्लोकः श्रीबाणभट्टेन लिखितः ।

न्याय व्याकरणाचार्य मीमांसाकाव्यवारिधेः ।

रामगोविन्दशुक्लस्य कृतिः स्ताद्विदुषां मुदे ॥

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य-शिक्षाशास्त्रिश्रीरामगोविन्दशुक्ल

विरचिते काव्यदीपिकामयूखे अष्टमः शिखालोकः समाप्तः ।



अथवा सब लोक इच्छापूर्वक लूट लें इससे कवीश्वरोंको कोई क्षति नहीं है ।
जैसे अनेक रत्नोंके लोप हो जानेपर भी समुद्र अभी रत्नाकर ही कहा जाता है ।

इति न्याय, व्याकरण, साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्लकी रची हुई काव्य-
दीपिकाकी किरण टीकामें अष्टम शिखालोक समाप्त ।



समाप्तव्यायं ग्रन्थः ।

